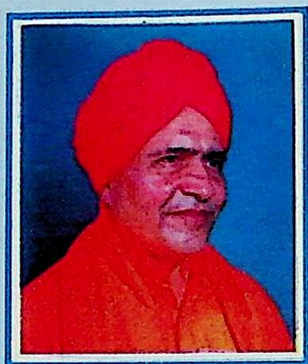
यज्ञ-योगविद्या

ॐ
ओ३म्
ओ३म्
ओ३म्
ओ३म्
ओ३म्
ओ३म्
ओ३म्
ओ३म्
ओ३म्



स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती
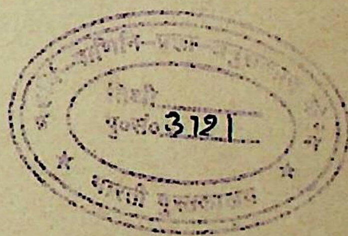
एम०ए० (वेद, दर्शनशास्त्र), पी-एच० डी०, डी०लिट्०

अध्यक्ष–**पातञ्जल योगधाम** आर्यनगर, हरिद्वार
महर्षि दयानन्द योगधाम, फरीदाबाद
संरक्षक : **वै०सा० तपोवन**, देहरादून

- गुरुकुल झज्झर हरियाणा में अध्ययन और अध्यापन; गुरुकुल कालबा तथा कांगड़ी विश्वविद्यालय में भी अध्ययन-अध्यापन
- शतशः योगशिविरों का निर्देशन-संचालन, सैकड़ों बृहद्-यज्ञों व वैदिक अनुष्ठानों के 'ब्रह्मा', देश-विदेशों में
- प्रवचनों में वैदिक एवं योग-विषयों पर प्रेरणादायी विचारों से समाज में आध्यात्मिकता व उत्साह का संचार एवं पारिवारिक सौहार्द
- समग्र-स्वास्थ्य-हेतु श्रद्धा=चित्त-सम्प्रसाद= आनन्द, आह्लाद और प्रफुल्लता का मुक्त वितरण
- लेखन : **'वेदों में योगविद्या', 'योग-दर्पण', योगाचरण एवं शिष्टाचार, श्रद्धासोपान**

सम्पादन : **'सन्ध्यारहस्य', 'गीत-कुसुमाञ्जलिः', दिव्य गीतांजलि, 'वेदयोगामृत' पत्रिका**
संस्थापक : **'यौगिक शोध-संस्थान', 'योगधाम'**
संरक्षक : **तपोवन आश्रम**, देहरादून

11.4





यज्ञ-योगविद्या

[वेदों से संकलित योग-परक मन्त्र एवं आर्यभाषानुवाद]

सम्पादक-भावानुवादक :

स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती

एवं

डॉ॰ वेदव्रत 'आलोक'

यौगिक-शोध-संस्थान

पातञ्जल योगधाम

आर्यनगर, हरिद्वार-२४९४०७

प्रकाशक : **यौगिक शोध-संस्थान**
पातञ्जल योगधाम, आर्यनगर हरिद्वार,
उत्तराञ्चल (भारत)

प्राप्तिस्थान : **पातञ्जल योगधाम**
आर्यनगर, हरिद्वार-२४९४०७
फोन : ०१३३४-२५४०३८

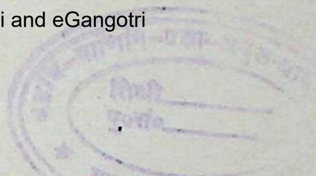
महर्षि दयानन्द योगधाम
गली नं० ८, सञ्जय मैमोरियल नगर,
फरीदाबाद (हरियाणा)
फोन : ९५-१२९-२४३१७६१

मूल्य : **७५.०० रुपये**

संस्करण : प्रथम, १९९५, (२००० प्रतियां)
द्वितीय, २००४, (२००० प्रतियां)

मुद्रक : **वैदिक प्रेस**, कैलाशनगर, दिल्ली-३१
फोन : २२०८१६४६





श्री गोविन्दराम कपूर

जन्म तिथि : ७.१.१८९९ दिवंगमन : १८.५.१९६७

"पूज्य तात श्रद्धासुमन यही करो स्वीकार ।
यज्ञ-योग-स्वाध्याय जो 'विद्या' के आधार ।
विनय यही परमेश से जिनके आप समीप ।
सदा-सतत देते रहें अपना प्रेरक प्यार ॥"

—कृष्णा कपूर



अनुक्रम



वेदैः प्रदीप्तामृषिभिः प्रयुक्तां,
तां योगविद्यां गुरुभिः प्रदत्ताम् ।
योगे नियोक्तुं नव-साधकेभ्यो,
दिव्यार्थ-भावेन समर्पयामः ॥

हे सत्-चित्-आनन्दमय प्यारे ओम् ! हे करुणा-वरुणालय! सर्वज्ञत्व-सर्वशक्तिमत्ता-सर्वव्यापकता आदि अनन्त-गुण-विभूषित दयालु देव ! आपने ही अपनी कृपा-किरणों से अमैथुनी सृष्टि के समय अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा इन चार ऋषियों में अनन्त आनन्द और ज्ञान-राशि एवं सब सत्य विद्याओं के आगार वेदज्ञान को प्रदीप्त किया था । उसी अक्षय ज्ञान-स्रोत का साक्षात्कार संरक्षण-प्रसारण ब्रह्मा से लेकर जैमिनि-पर्यन्त ऋषियों ने स्वानुभूत विमल प्रज्ञा द्वारा किया । मध्यकाल में अज्ञान से आच्छादित, लुप्तप्राय और धूलिधूसरित उसी वेदज्ञान को पुनः प्रकाशित, संवर्धित एवम् उद्दीप्त कर प्रसारित करने वाले वेदोद्धारक गुरुवर महर्षि दयानन्द सरस्वती की कृपा से कुछ ज्ञान-कणिकाएं हमें भी प्राप्त हो सकी हैं । योग के नये अभ्यासियों द्वारा यज्ञ एवं स्वाध्याय के क्षणों में विनियुक्त करके योग के दिव्य आलोक की प्राप्ति-हेतु इस वैदिक योगविद्या को अत्यन्त नम्रता-पूर्वक लोकोत्तर भावनाओं से प्रेरित होकर आर्यभाषा में भावार्थ-सहित सभी सहृदय साधकों की सेवा में समर्पित करते हैं ।

द्वितीय संस्करण की प्रस्तुति

यौगिक शोध-संस्थान, योगधाम, आर्यनगर, हरिद्वार द्वारा प्रकाशित **'वेदों में योगविद्या'** शोधकर्त्ता छात्र-छात्राओं के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध हुई है । कई शोधकर्त्ताओं ने ग्रन्थ के आंशिक भागों पर भी शोधप्रबन्ध लिखे हैं । इसी प्रकार योगविषयक ग्रन्थों का संकलन 'यज्ञ-योगविद्या' भी देश-विदेश में स्वाध्यायशील साधक-साधिकाओं के लिए उपयोगी है । साथ ही यज्ञप्रेमी याज्ञिकों को योगविषयक साधनोपायों की सिद्धि के लिए संकलित मन्त्रों से आहुति देने में अभिरुचि का जागरण हुआ है ।

अन्य विद्वानों ने चतुर्वेद शतकों का प्रकाशन किया है । उनमें क्रमशः विषयों का निर्धारण न होने से याज्ञिकों में किसी विषय का पूर्णज्ञान नहीं मिल पाता । इस न्यूनता को अनुभव करते हुए, इस ग्रन्थ में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि, योग के अंगों का विस्तार से वर्णन है, साथ ही पञ्चकोशों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है । इससे योग जिज्ञासुओं एवम् अध्यात्म-प्रेमियों के लिए यह संकलन विशेष उपयोगी बन गया है ।

योगयज्ञों का प्रचलन–योगाभिलाषी साधक-साधिकाओं में यज्ञ के प्रति सार्थक अभिरुचि का कारण 'यज्ञ-योगविद्या' ग्रन्थ बन चुका है । बहुशः साधक-साधिकाओं तथा योगप्रेमी आश्रमों ने योगशिविरों के समय तथा दैनिक यज्ञ के साथ प्रस्तुत ग्रन्थ के मन्त्रों से आहुतियाँ देनी प्रारम्भ कर दी हैं । संकलित मन्त्रों का अर्थ स्तुति-प्रार्थना-उपासना विषयों को स्पष्ट करता है, इस कारण यौगिक विषयों के ज्ञान संवर्धन में ग्रन्थ लाभकारी सिद्ध हुआ है । इन्हीं कारणों से ग्रन्थ का प्रथम संस्करण शीघ्र ही समाप्त हो गया । यौगिक शोधसंस्थान को द्वितीय संस्करण प्रिय पाठकों को समर्पित करते हुए हर्ष का अनुभव हो रहा है कि वैदिक योग का प्रसार यज्ञों के माध्यम से भी निरन्तर हो रहा है । इससे एक भ्रान्ति का निवारण हो रहा है कि यज्ञ केवल गृहस्थ के कर्मकाण्ड तक ही सीमित नहीं है । वरन् आध्यात्मिक

प्रगति में भी यज्ञ की वरीयता है ।

बहिन कृष्णा कपूर जी ने प्रथम संस्करण के लिए भी पुष्कल अनुदान देकर आर्थिक सहयोग किया था । इस द्वितीय संस्करण हेतु भी उन्होंने उसी प्रकार पूर्ण सहयोग किया है । अपने पूज्य पिता श्री गोविन्दराम जी कपूर की स्मृति में वे इस ग्रन्थरत्न को प्रकाशित करवा रही हैं । अपने पितृचरण की स्मृति का यह एक उत्तम प्रकार है । ईश्वर से प्रार्थना है कि उन्हें जीवन की सार्थक योग-साधना और जीवन्मुक्ति से सम्पन्न करें । **पातञ्जल योगधाम** और **यौगिक शोध-संस्थान** उनके इस औदार्य के लिए उनका आभार व्यक्त करते हैं ।

यद्यपि प्रथम संस्करण को बहुत सावधानी पूर्वक प्रकाशित किया गया था । पुनरपि मन्त्रार्थ प्रकट करने में तथा प्रकाशन में जो अशुद्धियाँ या अस्पष्टता रह गयी थीं । उन्हें इस संस्करण में पूर्णतया परिशुद्ध किया गया है । डॉ० वेदव्रत 'आलोक' ने पुनर्विचार करके जो शोधन किया है, इस के लिए उनका हार्दिक धन्यवाद प्रस्तुत करता हूँ । अतः यह ग्रन्थ पाठकवृन्द के लिए अत्यन्त उपयोगी-ग्राह्य सिद्ध होगा ।

—दिव्यानन्द सरस्वती

भूमिका

परमात्मा यज्ञ-स्वरूप है । सम्पूर्ण सृष्टि यज्ञमयी है । प्रकृति के पञ्चतत्त्वों से बना यह मानव शरीर भी यज्ञमय है: **इयं ते यज्ञिया तनूः।**

—यजु० ४।१३।।

वैदिक मान्यताओं को पुष्ट करने वाले वेदेतर साहित्य में भी, मनुष्य-जीवन को यज्ञमय स्वीकार किया है : **पुरुषो वाव यज्ञः ।**

—छान्दोग्य० ३।१६।१।।

यज्ञ की मुख्य भावना है— स्वार्थ का त्याग या परोपकार का ग्रहण । अग्नि, जल, वायु एवम् आकाश आदि सभी जड़ देव जिनके माध्यम से ईश्वर की अनन्त शक्तियां अभिव्यक्त होती हैं, निरन्तर स्वभाव से ही परोपकार में सलंग्न रहते हैं । इन देवों से प्रेरित होकर मनुष्य का भी कर्त्तव्य है कि निरन्तर परोपकारमय जीवन व्यतीत करे, केवल स्वार्थ-सिद्धि का प्रयास न करता रहे ।

साधना के द्वारा आन्तरिक दिव्य दृष्टि को उत्पन्न करके सर्वत्र व्याप्त परमात्मा के सूक्ष्म कर्मों को देखना तथा परमात्मा के कर्मों से प्रेरित होकर स्वयं निष्काम कर्म करते रहना नितान्त अभीष्ट एवम् आह्लादक है ।

पञ्चभूतों का तथा पञ्च-कोशों का परिष्कारक होने पर भी अग्निहोत्र को महर्षि पतंजलि द्वारा प्रतिपादित अष्टांग योग में साधनों के रूप में निर्दिष्ट नहीं किया गया है । उधर, धर्मसूत्रों तथा गृह्यसूत्रों में ऋषियों ने साधना एवं परोपकार में निरत संन्यासियों के लिए हवन आवश्यक नहीं बताया है । किन्तु संन्यासियों से अतिरिक्त ब्रह्मचारी, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ सभी के लिए यज्ञ (अग्निहोत्र) करना आवश्यक कहा गया है । ये तीनों आश्रमी यदि योगाभ्यास से संयुक्त होकर साधक बनने का संकल्प करते हैं, तो भी उन्हें साधना के कारण अग्निहोत्र से छूट नहीं मिल सकती; क्योंकि प्रारम्भिक साधक या गृहस्थ नर-नारियों को यज्ञीय कर्मकाण्ड भी अन्तर्मुख करने में सहायक होता है ।

कर्मकाण्ड—वेदान्त और मीमांसा के अनुसार वेदमन्त्रों में बताई हुई कर्त्तव्य कर्मों अर्थात् इष्ट और आपूर्त कर्मों की शिक्षा का नाम कर्मकाण्ड

है । इष्ट वे कर्म हैं जो किसी विशेष इच्छा को लेकर किये जायें तथा जिनकी विधि वेद-मन्त्रों में दी गई हो । जैसे- वर्षेष्टि, पुत्रेष्टि आदि । आपूर्त वे सामाजिक कर्म हैं, जिनकी आज्ञा वेदों में हो, किन्तु विधि लौकिक हो । जैसे-पाठशाला, गोशाला, कूप, अनाथालय आदि बनवाना । इन दोनों कर्मों के तीन अवान्तर भेद हैं-

१. **नित्य कर्म**-जो नित्य करने योग्य हैं, पञ्चमहायज्ञ आदि ।

२. **नैमित्तिक कर्म**-जो किसी निमित्त के होने पर किये जायें । जैसे : पुत्र का जन्म होने पर जातकर्म-संस्कार ।

३. **काम्य कर्म**-जो किसी लौकिक या पारलौकिक कामना से किया जाये ।

जैसे : (१) स्वर्ग या सुख विशेष की कामना से यज्ञ करना लौकिक कर्म है ।

(२) निष्काम भाव से यज्ञ, दान तथा जप-तप का अनुष्ठान करना पारलौकिक कर्म हैं ।

इनके अतिरिक्त कर्मों के दो और भेद हैं ।

(क) **निषिद्ध कर्म**-जिनके करने का शास्त्रों में निषेध हो । जैसे: जुआ, चोरी, शराब पीना, हिंसा करना, असत्य-भाषण, मांस-अण्डे का सेवन, पर-स्त्री-गमन आदि ।

(ख) **प्रायश्चित्त कर्म**-विधान किये हुए कर्मों को न करने अथवा विधि-विरुद्ध करने और वर्जित कर्म करने से अन्तःकरण पर जो मलिन संस्कार पड़ जाते हैं, उनको धोने के लिए जो कर्म किये जाएं ।

किसी कामना की सिद्धि के लिए किये गये कर्मों का फल मनुष्य को अवश्य ही प्राप्त होगा, तथा निषिद्ध कर्मों का आचरण भी अशुभ फल देगा ही। अतः सकाम तथा निन्दित कर्मों से निवृत्ति (हटना) आवश्यक है । इसी प्रकार नित्य और नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान भी नितान्त आवश्यक है । सिद्ध हुआ कि काम्य कर्मों के स्थान पर निष्काम कर्म तथा निषिद्ध कर्मों से निवृत्ति के लिए प्रायश्चित्त करना चाहिए । साथ ही नित्य और नैमित्तिक कर्मों में प्रवृत्ति मोक्ष की साधिका है ।

उपासना-काण्ड—वेद-मन्त्रों में बतलायी हुई 'लवलीनता' अर्थात् मन की वृत्तियों को सब ओर से हटाकर, केवल एक तत्त्व (परमात्मा) के लक्ष्य पर ठहराने की प्रक्रिया का नाम उपासना है । पूर्वमीमांसा में कर्मकाण्डियों के लिए यज्ञों द्वारा व्यष्टि रूप से उसी ब्रह्म की उपासना बताई गयी । किन्तु व्यवहार में यह उपासना विस्मृत-प्राय: हो गई, केवल बाह्य कर्म ही शेष रह गया है ।

ज्ञानकाण्ड—वेद मन्त्रों में जहां-जहां प्रकृति आत्मा और परमात्मा के स्वरूप का वर्णन है, उसको ज्ञान-काण्ड कहते हैं ।

उक्त तीनों काण्डों के वेदार्थ-विषयक विचार को मीमांसा कहते हैं । मीमांसा के दो भेद हैं—पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा । पूर्वमीमांसा में कर्मकाण्ड और उत्तरमीमांसा में ज्ञानकाण्ड पर विचार किया गया है। उपासना का पृथक् निर्देश न होने पर भी वह दोनों में सम्मिलित है । पूर्वमीमांसा को व्यास ऋषि के शिष्य जैमिनी ने प्रवृत्ति-मार्गी गृहस्थियों या कर्मकाण्डियों के लिए बनाया, जिसे मीमांसादर्शन भी कहते हैं ।

उत्तरमीमांसा को निवृत्ति-मार्ग वाले ज्ञानियों तथा संन्यासियों के लिए व्यास ऋषि ने स्वयं रचा है, जिसे वेदान्तदर्शन कहते हैं ।

वेदों के कर्मकाण्ड-प्रतिपादक मन्त्रों में जो विरोध प्रतीत होता है, केवल उसके वास्तविक अविरोध को दिखाने के लिए पूर्वमीमांसा की और वेद के ज्ञानकाण्ड में समन्वय-साधन और अविरोध की स्थापना के लिए उत्तरमीमांसा की रचना की गई है ।

पूर्वमीमांसा में मुक्ति का साधन :

मीमांसा का प्रथम सूत्र है **'अथातो धर्म-जिज्ञासा,'** अर्थात् अब धर्म की जिज्ञासा करते हैं । इसके अनुसार धर्म की व्याख्या में वेद-विहित तथा शिष्टों द्वारा आचरण किये हुए कर्मों में अपना जीवन व्यतीत करना बताया गया है । मीमांसा की मान्यता में कर्मों को यज्ञ तथा महायज्ञों में बांटा गया है । जैसा कि मनुस्मृति में कहा है—**'महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनूः'** अर्थात् महायज्ञों तथा यज्ञों द्वारा ब्राह्मण-शरीर बनता है, अथवा ब्रह्म को जानने योग्य शरीर बनता है ।

पूर्णिमा तथा अमावस्या में जो छोटी-छोटी इष्टियां की जाती हैं,

उनका नाम 'यज्ञ', और अश्वमेध, वाजपेय आदि यज्ञों का नाम 'महायज्ञ' है। दैनिक पञ्चमहायज्ञ यज्ञ के ही अवान्तर भेद हैं । ये यज्ञ और महायज्ञ वेदों में बतलायी हुई विधि के अनुसार होने चाहिएं । इसलिए जैमिनि मुनि ने इनकी सिद्धि के लिए 'शब्द' अर्थात् आगम (वेद) को ही प्रमाण माना है ।

वेद के विषय पांच प्रकार के हैं–१. विधि, २. मन्त्र, ३. नामधेय, ४. निषेध, ५. अर्थवाद । 'स्वर्गकामो यजेत'='स्वर्ग की कामना वाला यज्ञ करे', इस प्रकार के वाक्यों को **'विधि'** कहते हैं । अनुष्ठान के अर्थों की स्मृति कराने वाले वचनों को **'मन्त्र'** के नाम से पुकारते हैं । यज्ञों के नाम की **'नामधेय'** संज्ञा है। अनुचित कार्य से विरत होने को **'निषेध'** कहते हैं । तथा किसी पदार्थ के सच्चे गुणों के कथन को **'अर्थवाद'** कहते हैं ।

वेद में इन पांचों विषयों के होने पर भी उसका तात्पर्य विधि-वाक्यों में ही है । अन्य चारों विषय उनके केवल अङ्गभूत हैं तथा पुरुषों को अनुष्ठान के लिए उत्सुक बनाकर विधि-वाक्यों को ही सम्पन्न किया करते हैं ।

जैमिनिमुनि के मतानुसार यज्ञों से ही स्वर्ग अर्थात् ब्रह्म की प्राप्ति होती है । यज्ञ की महिमा गीता में तृतीय अध्याय के नवम श्लोक से १५वें श्लोक तक विशेष कही गयी है । वहां कहा है कि–

'यज्ञ के अतिरिक्त अन्य कर्म लोगों को बन्धन में डालते हैं। यज्ञ से वृद्धि होती है, यही इष्टफलों का देने वाला है । यज्ञ से जो देवताओं को सन्तुष्ट करता है उस लोक को वर्षा आदि के द्वारा देवता सन्तुष्ट करते रहते हैं । यही कल्याण का मार्ग है । देवताओं द्वारा दिये गये अन्न आदि से पञ्चमहायज्ञ आदि के द्वारा उन देवताओं का पूजन किये बिना जो खा-पी लेता है, वह चोर के समान है । इसके अतिरिक्त यज्ञ (पञ्चमहायज्ञ) आदि करके शेष बचे हुए भाग को ग्रहण करने वाले नर-नारी सब पापों से मुक्त हो जाते हैं । अन्न प्राणिमात्र का उत्पादक है । अन्न वर्षा से उत्पन्न होता है, वर्षा यज्ञ से तथा यज्ञ वैदिक कर्म से उत्पन्न होता है । यज्ञीय कर्म वेद से उत्पन्न होते हैं, और वेद अविनाशी परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं । इससे सर्वव्यापी, परम अक्षर परमात्मा सदा ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है ।'

इस प्रकार श्रीमद्भगवद् गीता में ईश्वर को व्यष्टि रूप से प्रत्येक यज्ञ का अधिष्ठातृ देव माना गया है, जिसकी उस विशेष योग-यज्ञ द्वारा उपासना की जाती है । उपनिषद् में भी इसकी पुष्टि की गई है । जैसे

''तद् यदिदमाहुः 'अमुं यजामुं यज' इत्येकैकं देवतम्, एतस्यैव सा विसृष्टि; एष उ ह्येव सर्वे देवाः ।'' (–बृहदा०१।४।६) '' जो यह कहते हैं कि 'उसका याग करो, उसका याग करो', इस प्रकार एक-एक देवता का याग बतलाते हैं, वह इसी की 'विसृष्टि', बिखरा हुआ अर्थात् व्यष्टि-रूप है, निःसन्देह यह ईश्वर ही सारे देवता हैं ।'' अग्नि उस ब्रह्म से उत्पन्न हुआ, उसी का प्रकाशक है । इसी प्रकार दूसरे देवता भी उसी के प्रकाशक हैं । इसलिए यज्ञों में जो अग्नि, इन्द्र, प्रजापति आदि भिन्न-भिन्न देवताओं की उपासना की जाती है, वह वास्तव में उसी एक ब्रह्म की उपासना है ।

वेदों में उसी ब्रह्म को हिरण्यगर्भ, अग्नि, मित्र, सूर्य, चन्द्रमा, वायु आदि अनेकों नामों से पुकारा गया है ।

स वरुणः सायमग्निर्भवति स मित्रो भवति प्रातरुद्यन् ।
स सविता भूत्वान्तरिक्षेण याति स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम् ॥

–अथर्ववेद १३।३।१३।।

अर्थात् 'वह ब्रह्म सायंकाल अग्नि और वरुण होता है, और प्रातःकाल उदय होता हुआ वह मित्र होता है । वह सविता होकर अन्तरिक्ष में चलता है । वह इन्द्र होकर मध्य में द्युलोक को तपाता है ।'

यास्क ऋषि ने निरुक्त के सप्तम अध्याय दैवतकाण्ड में स्पष्ट शब्दों में विवेचना की है कि इस जगत् के मूल में एक महत्त्वशालिनी शक्ति विद्यमान है, जो निरतिशय ऐश्वर्यशालिनी होने से ईश्वर कहलाती है । वह एक अद्वितीय है, उसी एक देवता की बहुत रूपों से स्तुति की जाती है।

'महाभाग्याद् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते ।
एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति ॥' –निरुक्त ७।४।८९।।

इस प्रकार जैमिनि मुनि द्वारा पूर्वमीमांसा में कर्मकाण्डी गृहस्थियों के लिए यज्ञों द्वारा व्यष्टि रूप से उसी ब्रह्म की उपासना बतलायी गयी है।

उत्तरमीमांसा में मुक्ति के साधन

महर्षि व्यास ने ज्ञानियों तथा संन्यासियों के लिए, ज्ञान द्वारा तृतीय तत्त्व अर्थात् परमात्मा की उपासना बतायी है । किन्तु मुक्ति के सम्बन्ध में व्यास ऋषि का जैमिनि मुनि से कोई मतभेद नहीं है । वेदान्तदर्शन (४।४।५) में जैमिनि आचार्य का मत स्पष्ट किया गया है कि, 'मुक्त पुरुष

(अपर) ब्रह्म में स्थित होता है, क्योंकि श्रुति में उसी रूप का उपन्यास है, उसी की स्थापना है ।'

औडुलोमि आचार्य मानते हैं कि मुक्त पुरुष चिति-मात्र-स्वरूप से स्थित होता है, क्योंकि यही उसका अपना स्वरूप है । इस प्रकार भी उपन्यास (उद्देश्य) है, और पूर्व कहे हुए धर्म भी उसमें पाये जाते हैं । इसलिए उन दोनों में कोई भेद नहीं है । ऐसा बादरायण व्यास ऋषि (सूत्र ४।४।६ में) मानते हैं ।

मीमांसा तथा वेदान्त के विवेचन से निष्कर्ष निकला कि कर्मकाण्ड द्वारा या सूक्ष्म चिन्तन द्वारा दोनों विधियों से ब्रह्म की उपासना की जा सकती है । कालक्रम में उपासना के ये दो मार्ग अत्यन्त भिन्न हो गये । कर्मकाण्डी केवल क्रियाओं को पूरा करने में ही सन्तुष्टि मानने लगे, और ज्ञानी ज्ञान से सफलता मानने लगे ; तथा कर्म से पृथक् होकर आलसी, प्रमादी कर्तव्यहीन बनकर संसार के लिए भार बन गये । फलतः दोनों विचारधाराओं ने समाज की हानि ही की ।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने चारों वेदों के प्रतिपाद्य विषय को संगत बताते हुए स्पष्ट किया कि ज्ञान प्राथमिक अवस्था है । ज्ञान के पश्चात् कर्म की अग्रिम किन्तु अनिवार्य अवस्था है । ज्ञान क्रिया के बिना भार रूप है । ज्ञान के बिना कर्म अन्धा है, और कर्म के बिना ज्ञान भी लंगड़ा है । अतः दोनों का सामंजस्य नितान्त आवश्यक है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ की उपयोगिता–'यज्ञ-योग-विद्या' के इस संकलन में उक्त न्यूनता को पूर्ण करने का प्रयास किया गया है । ज्ञान और कर्म के साथ उपासना के बिना कर्म बन्धन का, तथा ज्ञान आलस्य और रोग का कारण बनता है । अतः कर्म-बन्धन से मुक्त होने के लिए उपासना से निष्काम भाव की उत्पत्ति होना आवश्यक है ।

उपासना-क्रम में यज्ञ कर्म को उपयोगी साधन बनाने की दृष्टि से इस ग्रन्थ में अष्टांग योग तथा पंच-कोष-शोधन का क्रम अपनाया है । ज्ञानियों में कर्म के प्रति उत्साह उत्पन्न करने के लिए श्रेष्ठ कर्म यज्ञादि वा परोपकार के कर्मों का महत्त्व प्रदर्शित किया है ।

साधना-क्रम में जब साधक-साधिकाएं अपने आपको संलग्न करना चाहें तो सर्वप्रथम शरीर की पुष्टि एवं स्वस्थता को स्थिर बनाने के लिए उचित आहार-निद्रा-ब्रह्मचर्य का परिपालन करें । साथ ही, अन्नमय कोश

के मन्त्रों से यज्ञ करते हुए इन क्रियाओं के अनुरूप भावना बनाएं । इससे विशेष सहयोग मिलेगा ।

शरीर के विकास के लिए स्थूल शरीर के आत्मा-रूप प्राणों को बलवान् बनाना योग्य है । प्राण-पुष्टि के लिए प्राणायाम आदि क्रियाओं से पूर्व शुद्ध वायु की प्राप्ति के लिए यज्ञ की महती उपयोगिता है । यज्ञ के समय प्राणों की महत्ता को स्मरण करते हुए **'प्राणाय स्वाहा' 'अपानाय स्वाहा'** आदि प्राणमय कोश के मन्त्रों से दी गई आहुतियां प्राण को निश्चित रूप से पुष्ट करेंगी ।

प्राणों का तथा मन का घनिष्ठ सम्बन्ध है, मनोनिग्रह के लिए प्राण का संयम स्तम्भवृत्ति प्राणायाम से हो, तथा मनोनिग्रह की बाधाओं को दूर करने की प्रार्थना रूप आहुतियां दी जायें तो सिद्धि शीघ्र सम्भव है । मनोनिग्रह होने पर प्रत्याहार की स्थिति में मन को क्या ध्यान करना चाहिए, तथा क्या चिन्तन करना चाहिए ? एतदर्थ ईश्वर-चिन्तन परमावश्यक है। अतः उसकी स्तुति-परक मन्त्रों का संकलन आहुतियों के साथ प्रभु का चिन्तन करने में विशेष उपयोगी सिद्ध हो सकेगा ।

इसी प्रकार बौद्धिक विकास के लिए विज्ञानमय कोश के मन्त्रों का प्रयोग तथा समाधि की साधना में आनन्दमय कोश के मन्त्रों से चिन्तन करने के साथ उन्हीं मन्त्रों से अग्निहोत्र विशेष रूप से किया जाय तो कर्त्तव्य कर्मों की विशेषता बढ़ेगी तथा संकल्प-शक्ति का उदय होकर क्रियाओं का विशेष महत्त्व बनेगा । योगाभ्यासी की साधना सफलता को प्राप्त हो, अतः विभूतियों की प्राप्ति के लिए प्रार्थना-परक यज्ञ की आवश्यकता है।

जन्म-मरण-चक्र से छूट कर मोक्ष-पद की प्राप्ति के लिए भाव बनाना, और भावों को सिद्ध करने के लिए इन भावों एवं कर्मों को यज्ञ से सामर्थ्यवान् बनाना चाहिए । इन्हीं उदात्त भावनाओं को लेकर एकान्त में स्वाध्याय तथा यज्ञ-हेतु यह ग्रन्थ उपयोगी सिद्ध हो सकेगा ।

पातञ्जल योगधाम, आर्यनगर, हरिद्वार में जब ध्यान योग का शिविर आयोजित किया जाता है तो साधना की भावना से आये साधक-साधिकाओं को यज्ञ में भी रुचि होती है । दैनिक यज्ञ के साथ कुछ योगपरक मन्त्रों से आहुतियां दी जाती थीं । बाद में विचारा गया कि 'वेदों में योगविद्या' ग्रन्थ से मन्त्रों को लेकर आहुतियां दी जायें । उपयोगिता

विशेष होने से माननीय **श्रीरणजित् मुनि** को सार्थक मन्त्रों का संकलन करने को कहा गया। उन्होंने बड़े परिश्रम से पर्याप्त समय लगाकर संकलन किया। एतदर्थ मुनि जी विशेष धन्यवाद के पात्र हैं। मन्त्रों का पुनर्लेखन **स्वामी धर्मानन्द** योग-तीर्थ (पूर्व ब्र० धर्मपाल वेदालंकार) ने विशेष रुचिपूर्वक किया। बाद में **ब्र० जितेन्द्रकुमार** (एम. ए. संस्कृत) ने अर्थ-संकलन तथा पुनर्लेखन में पूरे मन से योगदान किया। इसके लिए दोनों युवकों को विशेष आशीर्वाद देता हूं।

सुश्री कृष्णा कपूर प्रबुद्ध एवं सुशिक्षित बहन हैं। उन्होंने सम्पूर्ण जीवन शिक्षा क्षेत्र की सेवा करने में लगाया है। आर्य कन्या इण्टर कॉलेज झांसी के गौरवपूर्ण प्रधानाचार्या पद से आप सेवा-निवृत्त हो चुकी हैं। इसके अतिरिक्त आर्यप्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश के प्रमुख पदों का कार्य भार सम्भालती रही हैं। गत वर्षों में जिला आर्य उपप्रतिनिधि सभा झांसी के मन्त्री पद का योग्यता पूर्वक कार्य सम्पन्न करती रही हैं। आपका सरल स्वाभिमान-पूर्ण स्वभाव अत्यन्त प्रभावित करता है। आपने अपने पूज्य पिता **श्री गोविन्दराम कपूर** की पुण्य स्मृति में इस ग्रन्थ को अपने व्यय से प्रकाशित कराया है। एतदर्थ साधक-साधिका मण्डल एवं अपनी ओर से विशेष आभार व्यक्त करता हूं। आगे भी बहन जी योगधाम के विशेष कार्यों में सहयोग देती रहेंगी, इसी भद्रभावना से उनके लिए मंगल कामना करता हूं।

प्रकाशन की तैयारी होने पर संशोधन तथा सम्पादन का दायित्व आदरणीय **डॉ० वेदव्रत 'आलोक'** ने बड़ी सौजन्यता से स्वीकार किया। आपने तथा आपकी देवी जी, **श्रीमती विश्ववारा** ने अपने रोहिणी-स्थित वरुण विहार में मुझे आवास, प्राकृतिक भोजन तथा निश्चिन्त संशोधन की पूरी सुविधा देकर भरपूर सहयोग दिया। डॉ० आलोक ने अपनी सूक्ष्म विचारणा से मन्त्रार्थों में नवीन प्राण डालकर बोधगम्य बनाने का पूरा प्रयास किया है। हमारे इस सम्मिलित प्रयास से यह ग्रन्थ विद्वत् समाज के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होगा, ऐसी आशा है।

वैदिक प्रेस के विद्वान् प्रबन्धक **श्री पं० विश्वदेव शास्त्री** हमारे पूज्य गुरुवर्य स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती योगी के प्रमुख शिष्य हैं। उन्होंने विद्वत्ता पूर्ण संशोधन में सहयोग दिया है, अतः उनका विशेष धन्यवाद करता हूं।

—दिव्यानन्द सरस्वती

प्राक्कथन

यज्ञ का अभिप्राय सभी उत्तम कर्मों से है, जिन्हें तीन तरह का बताया गया है–१. **देव-पूजा**=प्राकृतिक शक्तियों का संवर्धन, जिसका माध्यम सनातन काल से 'अग्निहोत्र' को बनाया गया। इस की आवश्यकता और उपयोगिता वातावरण को प्रदूषण-मुक्त और आधिदैविक जगत् को ऊर्जस्वी बनाये रखने के लिए सदा ही रहती है। २. **संगतिकरण**=क्रियाओं में उचित सन्तुलन बनाये रखना। अन्तर्जगत् का पोषण करने एवं निरन्तर स्वस्थ-सानन्द रहने के लिए यज्ञ का यह रूप 'योग' ही है, और कुछ वैसा ही भाव रखता है, तथा आध्यात्मिक प्रशान्ति का आधार है। ३. **दान**=अपने वैभव-ऐश्वर्य के यथोचित वितरण द्वारा आधिभौतिक जगत् में प्रेम, शान्ति और आनन्द का सर्वत्र प्रसार होता है। ये तीनों प्रकार के कर्म यज्ञ ही हैं और सभी के द्वारा अंगीकरणीय हैं। योग के विद्वान् इन्हीं के अनुपालन को **'कर्म-योग'** की संज्ञा देते हैं।

योग शब्द दो धातुओं से बनता है। **'युजिर् योगे'** और **युज् 'समाधौ'**। प्रथम **'संयोग'** अर्थ में तो यह यज्ञ के 'संगतिकरण' का ही समानार्थक प्रतीत होता है। इस अर्थ में **'योग'** उस शक्ति का भी संकेत देता है, जो पूरे संसार को परस्पर जोड़ रही है, जिस के द्वारा जड़ पदार्थ ही नहीं चेतन तत्त्व भी सहयोगी और संयुक्त होकर ही सब के अस्तित्व को सार्थक और सम्पन्न बनाते हैं। द्वितीय **'समाधि'** अर्थ में एकाग्र एवं समाहित-चित्त आत्मा को द्रष्टा-रूप में स्थित करके, सब प्रकार के कर्मों में कर्तृत्व का अभाव देता हुआ, सन्तुलित एवम् आनन्दी जीवन प्रदान करता है। वस्तुतः गीता के **'योगः कर्मसु कौशलम्'** तथा **'समत्वं योग उच्यते'** में सभी कर्मों एवं व्यवहारों से जुड़ते हुए कुशलता और सन्तुलन की प्राप्ति द्वारा योग के इन दोनों अर्थों को समेटा गया है। समाहित चित्त की स्थिति को स्थायी बनाने के लिए अष्टांग-योग के सतत अभ्यास की निरन्तर अपेक्षा है, और इसी दृष्टि से सामान्यतः योग को **'उपासना-योग'** के रूप में ही देखा व समझा जाता है।

विद्या है अनुभूति-जन्य साक्षात्कृत आध्यात्मिक ज्ञान, जैसा कि वैदिक मन्त्रों, विविध दर्शनों एवं मोक्ष-शास्त्रों के रूप में ऋषियों को उपलब्ध हुआ। इसके वाङ्मय के स्वतः अध्ययन, मनन एवं निदिध्यासन द्वारा तथा अधीतविद्य गुरुओं का शिष्य बनकर, विद्या का अर्जन करता हुआ साधक **'ज्ञान-योग'** मार्ग का अनुगामी होता है। इन उपरिलिखित तीनों योग-मार्गों का यहां समन्वय होने से यज्ञ-योग-हेतु मन्त्रों की विद्या के संवाहक प्रस्तुत ग्रन्थ का **'यज्ञ-योग-विद्या'** नाम सार्थक और सप्रयोजन कहा जाएगा।

इस ग्रन्थ का नाम रखते हुए एक अन्य नाम भी हमें उपयुक्त प्रतीत हो रहा था–'मन्त्र-योग-सिद्धि', जो विशेषतः इसकी उपयोगिता को रेखांकित करता है। कारण, महर्षि पतञ्जलि ने मन्त्र द्वारा भी सिद्धियों की उपलब्धि को स्पष्ट स्वीकारा है।

'जन्मौषधि-मन्त्र-तपः-समाधिजाः सिद्धयः।'

अर्थात् सिद्धियों का जन्म पांच प्रकार से होता है– १. जन्म से, २. औषधियों से, ३. मन्त्र से, ४. तपस् से, और ५ समाधि द्वारा।

ध्यान रहे, सिद्धि या विभूति का अर्थ कोई चमत्कार या जादूगरी नहीं है। सिद्धि का अर्थ है ऐसा असामान्य गुणात्मक परिवर्तन जो शरीर, इन्द्रिय और चित्त की प्रकृति और सामर्थ्य में विलक्षण परिणाम उत्पन्न कर दे। इस प्रकार पांचों उपायों से मानव-प्रकृति में अलौकिक विलक्षणता का तथा स्वभाव एवं व्यवहार में श्रेष्ठता का विशिष्ट उद्भव होता है। साधकों के लिए यह स्वानुभूति द्वारा स्वयं सिद्ध है, जिसे आत्मा, परमात्मा ओर कैवल्य की ही भांति प्रमाणित करने की अपेक्षा नहीं है।

मन्त्र-सिद्धि के लिए भारतीय मनीषा के आदि-स्रोत वेदों से बढ़कर उत्तम मन्त्र और कहां से मिल सकते हैं। विविध यागों व विशिष्ट-अनुष्ठानों में कर्मकाण्ड के आचार्यों द्वारा इन्हीं मन्त्रों का विनियोग प्रधानतया किया गया है। ब्रह्म-यज्ञ की निष्पत्ति-हेतु भी इन्हीं के अर्थों पर विचारपूर्वक प्रातः-सायं की सन्ध्या का विधान है। देवयज्ञ में वैदिक मन्त्रों से ही आहुतियां समर्पित करके दिव्य शक्तियों का संवर्धन, आह्वान एवं स्वयं में आधान किया जाता है। और फिर योग के आठ अंगों

में 'नियम' के अन्तर्गत स्वाध्याय-हेतु मोक्ष-शास्त्रों के अध्ययन का शिरोमणि 'वेदों का अनुशीलन' ही है । इस प्रकार सभी दृष्टियों से योग-साधक के लिए वेद-मन्त्रों पर अर्थसहित विचार-मन्थन करना नितान्त उपयोगी हो जाता है ।

वेदों का प्रतिपाद्य, बाह्य दृष्टि से देखें तो कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि वेदों में अधिकांशत: विविध देवी-देवताओं का वर्णन है । या फिर कतिपय सांसारिक-भौतिक विषय, जैसे सृष्टि की उत्पत्ति, समाज-परिवार का संगठन अथवा द्यूत-क्रीड़ा जैसी बुराइयों आदि का उल्लेख है । किन्तु यह दृष्टि समग्र नहीं है । वेदों के प्रतिपाद्य को गहराई से समझकर ही कठोपनिषत्कार ने कहा है–

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि–ओ३म् इत्येतत्॥

–कठ० १।२।१५॥

अर्थात् ओ३म् ही वह पद है, जिस पर सारे वेद मनन करते हैं। इस आधार पर महर्षि दयानन्द का यह प्रतिपादन ध्यान देने योग्य है । "वेदों में अवयव-रूप विषय तो अनेक हैं , परन्तु उनमें से चार मुख्य हैं–

१. विज्ञान.........., २. कर्म........ , ३. उपासना, ४. ज्ञान । 'विज्ञान' उसको कहते हैं कि कर्म उपासना और ज्ञान इन तीनों से यथावत् उपयोग लेना;........ यह विषय चारों में भी प्रधान है ....। सो भी दो प्रकार के हैं एक तो परमेश्वर का यथावत् ज्ञान और उसकी आज्ञा का बराबर पालन करना, और दूसरा उसके रचे हुए सब पदार्थों के गुणों को यथावत् विचार के उन से कार्य सिद्ध करना....... । *इन दोनों में से भी ईश्वर का प्रतिपादन प्रधान है ।*"

माण्डूक्य उपनिषत् का प्रथम मन्त्र भी ईश्वरवाची ओ३म् पद की व्यापकता और विस्तार का कथन इन शब्दों में करता है । "**ओमित्येदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं-भवद्-भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव । यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव ॥**"="ओ३म् यह अविनाशी पद है । यह सारा ब्रह्माण्ड उसी के समीप है, उसी की व्याख्या या विस्तार है । भूत, वर्तमान और भविष्य सब ओंकार ही है । इसके अतिरिक्त जो कुछ तीनों कालों से हटकर है, वह ओंकार ही है ।"

सचमुच ईश्वर और उसकी सर्वव्यापकता को समझने के लिए ओ३म् पद को जानना प्रत्येक योग-साधक के लिए उतना ही आवश्यक है जितना कि वैदिक ऋषियों के लिए था। ओ३म् वह पद है, जिसका अन्वेषण ऋषियों ने सब ध्वनियों के मूलभूत नाद के रूप में किया था। वैज्ञानिक भी अब जान गये हैं कि *एक मूलभूत नाद या ध्वनि-तरंग ही अणु-परमाणु की संरचना में स्पन्दित होकर सृष्टि को विधिवत् और विविध रूपाकार प्रदान कर रही है।* इसलिए इस आधारभूत ओंकार के विचार द्वारा ब्रह्माण्ड के कण-कण के विचार से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

ब्रह्माण्ड के मूलाधार के रूप में इस ओंकार को जानकर ही महर्षि दयानन्द ने आर्यसमाज के प्रथम नियम में इस तथ्य को संकेतित कर दिया—'सब सत्य-विद्या और जो पदार्थ-विद्या से जाने जाते हैं, उन सब का आदि मूल परमेश्वर है।' और यह भी ध्यान देने योग्य है कि इस नियम में महर्षि द्वारा वेद को सब सत्य-विद्याओं का पुस्तक कहना इसीलिए सार्थक है कि वेदों में उस सर्वाधार विश्वात्मा का मनन उपलब्ध होता है, जो 'सब का आदिमूल' है।

प्रकारान्तर से कहें तो यह सब कुछ, यह सारा दृश्यमान जगत् उसी अनन्त-ज्ञानमय अनन्त-शक्ति-रूप ईश्वर का ही बाह्य प्रकटीकरण है। इसीलिए हमारे ऋषि इस तरह के रहस्यात्मक वाक्यों का प्रयोग कर सके थे—

'तस्मिन् वा विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।'

="उस परम तत्त्व को विशेषतया जान लेने पर इस सब का विशेष ज्ञान भी हो जाता है।"

अथवा दूसरी ओर **'प्रतिबोध-विदितं मतम् अमृतत्वं हि विन्दते॥'**

="अमर पद के भाव को वही पाता है जो यह मनन कर लेता है कि प्रत्येक ज्ञान द्वारा उसी को जाना गया है।" आज का वैज्ञानिक भी पदार्थ-विद्या के सूक्ष्मतर, गहनतर सत्य तक पहुंच कर मानने लगा है कि अणुमात्र की रचना में केवल ऊर्जा और ज्ञान की तरंगों का खेल ही काम कर रहा है, जो अनन्त शक्ति और ज्ञान का ही एक अंश है। इस नव-विकसित समझ के बाद परमात्मा की सर्वव्यापकता को प्रमाणित करने की आवश्यकता ही नहीं रहती। अमेरिका में अति प्रसिद्ध एक

भारतीय शरीर-विज्ञानी दीपक चोपड़ा लिखते हैं-

"In their essential state, our bodies are compossed of energy and information, not solid matter. This energy and information is an outcropping of infinite fields of energy and information spanning the Universe." (Ageless Body, Timeless mind. p5-6, Crown Publishers, U.S.A)

="तात्त्विक अवस्था में हमारे शरीरों की संरचना ऊर्जा और ज्ञान से हुई है; ठोस पदार्थ से नहीं । समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त ऊर्जा और ज्ञान के अनन्त क्षेत्र से इस शरीरगत शक्ति और सूचना का प्रस्फुटन या अंकुरण हुआ है ।"

ज्ञान और ऊर्जा के अनन्त क्षेत्र-रूप उस परमात्मा को यज्ञ, योग और विद्या का मुख्य अथवा एकमात्र विषय भी कहें तो अत्युक्ति न होगी । इसलिए प्रस्तुत ग्रन्थ में वेद-मन्त्रों की विद्या को यज्ञ और योग के सम्मिलित अथवा पृथक्‌शः अंगीकृत सन्दर्भों में विनियुक्त किया गया है । **चाहें तो इसे याज्ञिकों का *योगानुष्ठान* कह लें, चाहें तो योग-साधकों की विशिष्ट *यज्ञ-पद्धति* और चाहें तो स्वाध्याय-प्रेमियों के लिए योग-विद्या की दृष्टि से वेदाध्ययन ।**

प्रस्तुत ग्रन्थ के मन्त्रों के चयन हेतु यद्यपि कुछ उत्तम सकलन जैसे डॉ॰ रामनाथ वेदालंकार की 'वैदिक मधुवृष्टि' आदि को अवश्य देखा गया है; तथापि इस ग्रन्थ का मुख्य आधार श्री स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती का श्रेष्ठ ग्रन्थ **'वेदों में योग-विद्या'** ही है । योगधाम के संस्थापक महामहिम स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती योगी की सतत प्रेरणा व निर्देशों के साथ-साथ प्रबुद्ध आर्य-विद्वान् डॉ॰ वाचस्पति उपाध्याय उनके शोध -निरीक्षक थे । फिर भी, वह एक शोध-प्रबन्ध है, जिसकी अपनी सीमाएं होती हैं । उसमें मन्त्रों के अर्थ करते हुए पूर्ववर्ती आचार्यों की शास्त्रीय मर्यादा का अनुपालन करना होता है । साथ ही, बहुत कुछ ऐसी सामग्री भी संयोजित करनी पड़ती है जो विद्वानों एवं परीक्षकों की शंकाओं का निराकरण कर सके । नवीन विषय के प्रतिपादन-हेतु आवश्यक होने पर भी योग-जिज्ञासु साधक के लिए उस सामग्री की उपयोगिता कम ही होती है । और अब वह ग्रन्थ समाप्त-प्राय है । अतः साधकों को उसी जैसा उपयोगी ग्रन्थ सुलभ कराना अपेक्षित हो गया है ।

इसके अतिरिक्त 'वेदों में योग-विद्या' को लगभग बीस वर्ष पूर्व लिखते हुए स्वामी जी एक शोधार्थी थे, और योग के गुह्य गहन साधना पथ पर तब उनके अनुपम 'पुरुषार्थ' का समारंभ ही हुआ था। आज सहस्त्रशः साधना-सत्रों के संचालन-निर्देशन के विपुल अनुभव से सम्पन्न वे एक योग-विद्या-विशारद सच्चे संन्यासी सिद्ध हो चुके हैं। योग-विषयक इस आत्मानुभूति एवं मर्मज्ञता का प्रयोग और उपयोग वेद-मन्त्रों के गम्भीर तात्पर्य को समझने में करना अब नितान्त वाञ्छनीय था। उनके साथ बैठ कर मन्त्रार्थों पर विचार करते हुए अनेक स्थलों पर स्पष्ट अनुभव हुआ है कि वैदिक ऋषियों की प्रज्ञा का स्पर्श हम कुछ अधिक आत्मीयता से कर पा रहे हैं। वैसे, शब्दों द्वारा अवचनीय उस अनिर्वचनीय तत्त्व की गइराई में उतरना एक सतत प्रक्रिया है, जिसे लेखक ही नहीं पाठक भी आगे बढ़ाता रहता है।

वेद-मन्त्रों के अर्थों को समझने में जिन ग्रन्थों का विशेष उपयोग हुआ, उन ग्रन्थकारों का नामोल्लेख हार्दिक कृतज्ञता के साथ किया जा रहा है।

'ऋग्वेद-भाष्यम्'-श्रीमद्दयानन्द सरस्वती,वैदिक यन्त्रालय, अजमेर
'ऋग्वेद-भाषा-भाष्य'-सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली
'यजुर्वेद-भाषा-भाष्य'-महर्षि दयानन्द सरस्वती, सार्वदेशिक॰
'अथर्ववेद-भाषा-भाष्य'-प॰ क्षेमकरणदास त्रिवेदी, सार्वदेशिक॰
'अथर्ववेद-भाष्य'-प्रो॰ विश्वनाथ विद्यालंकार, रामलाल कपूर ट्रस्ट
चारों वेदों का सरल हिन्दी भावार्थ-पं॰ श्रीराम शर्मा आचार्य,
चारों वेदों का सरल हिन्दी भावार्थ-श्री पाद दामोदर सातवलेकर, पारडी

इन एवम् अन्य ग्रन्थों को उपलब्ध कराने में हमें जिन विशिष्ट विद्वानों ने सहयोग किया उनका विशेष आभार अनुभव करते हैं, विशेषतः **स्वामी अनन्त भारती** (पूर्व डॉ॰ ब्रह्ममित्र अवस्थी) एवं **डॉ॰ सत्यकाम वर्मा** का, जिन्होंने पुस्तक-प्रस्तुतीकरण के लिए भी उपयोगी परामर्श दिये, **डॉ॰ कृष्णलाल 'नादान'** का जिन्होंने अपने घर पर स्थित पुस्तकालय उपलब्ध करा दिया, एवं **डॉ॰ रघुवीर मुमुक्षु** का, जिन्होंने अथर्ववेद के सभी खण्ड सौंप दिये। **माता लीलावती गुप्ता**, शक्ति नगर, तथा **माता शकुन्तला गुप्ता**, बंगाली मार्केट, नई दिल्ली, ने भी ग्रन्थ उपलब्ध करा कर कृतार्थ किया।

यहां यह बता देना आवश्यक है कि विविध ग्रन्थों का उपयोग मन्त्रों के शब्दार्थ-ज्ञान के लिए ही अधिक किया गया है, मन्त्रान्वय हेतु उतना नहीं। कारण, मन्त्रों की वाक्य-रचना हमें अधिकांश ग्रन्थकारों द्वारा दिये अन्वय की अपेक्षा प्राय: सरलतर प्रतीत हुई है। अधिकांश मन्त्रों में प्रत्येक पद स्वतन्त्र वाक्य या वाक्यांश हुआ करता है। उसी रूप में उनको समझना सरल भी है।

दूसरे, महर्षि के मन्तव्य के अनुसार मन्त्रगत शब्दों के यौगिक अर्थ ही स्वीकार किये गये हैं, रूढ़ या पौराणिक नहीं। वहां देव या देवता का अभिप्राय भी कहीं किसी मानव-देह-धारी, पुराण-प्रसिद्ध इन्द्र आदि का नहीं माना जा सकता। कारण, वेदों में ऐसे किसी पुराण या इतिहास का अस्तित्व नहीं है, प्रत्युत वेदमन्त्रों के आध्यात्मिक अर्थों को समझे बिना आधिदैविक भावों को पौराणिक सन्दर्भों से जोड़कर बहु-देवतावादी कथाएं रच डाली गई हैं। उनमें सृष्टिगत सत्य का मानवीकरण (personification) तो कहीं-कहीं अवश्य हुआ है, किन्तु स्वर्गलोक और उसमें निवास करने वाले देव, गन्धर्व, अप्सराओं के वर्णन केवल कल्पना-प्रसूत किस्से कहानियां ही हैं। उनका वास्तविक अस्तित्व नहीं है। बीसवीं सदी के सन्त विनोबा का यह निष्कर्ष यहां उद्धरणीय है :

''*वेदों में वर्णित-देवताओं का स्वरूप वेद-स्वाध्याय-मूलक ध्यान-समाधि से साक्षात्कृत होता है।* वे देवता परमात्मा के एक-एक अंश रूपेण हैं। वे सब एक ही परमात्मा के अंगभूत अथवा विभूति-रूप 'गौण' यानी गुण-निदर्शक माने गये हैं'' (महागुहा में प्रवेश'–पृ०१४५)

तीसरे, यह सभी भाष्यकार समझते हैं व स्वीकारते हैं कि उनके द्वारा किया गया अर्थ किसी भी मन्त्र का इदमित्थम्तया अन्तिम या एकमात्र अर्थ नहीं हो सकता। इस ग्रन्थ के अर्थों के विषय में भी यह अक्षरशः सत्य है। हम चूंकि योगाभ्यासी साधक की दृष्टि से विचारते रहे हैं, अतः हमें वही दिखाई दिया है। कोई वैज्ञानिक इन मन्त्रों में विज्ञान के नियम देखता है, तो कोई शास्त्रज्ञ शास्त्रों के सिद्धान्तों का प्रतिपादन पाता है। वस्तुतः वेदमन्त्रों में निहित शाश्वत ऋत तक पहुंचने के ये विविध मार्ग हैं। इनके आधार पर किये भिन्न अर्थों को देखकर संशय करने का कोई अवकाश नहीं होना चाहिए। महर्षि ने भी मन्त्रों को आध्यात्मिक, आधिदैविक एवम् अधिभौतिक इन तीनों प्रकार के अर्थों से सम्पन्न माना है।

इस 'दिव्य-वैदिक' ग्रन्थ की विषय-वस्तु का क्रम-निर्धारण करने में हमने महर्षि पतञ्जलि के 'अष्टांग-योग' का, एवम् अन्य सभी मनीषियों द्वारा स्वीकृत पञ्चकोश-निर्मित मानव शरीर को विविध स्तरों पर इस आर्ष योग से पोषित-प्रभावित परिष्कृत करने के क्रमिक विकास का समन्वय किया है ।

प्रथम अध्याय में यज्ञ-विषयक मन्त्र एक प्रकार से योग-यज्ञ की पृष्ठभूमि तैयार करते हैं । **द्वितीय अध्याय** में यम-नियम विषयक मन्त्रों से मानव का सामाजिक एवं वैयक्तिक व्यक्तित्व समग्रतः योगयुक्त होता है, अतः उसमें किसी विशेष कोश का नामोल्लेख नहीं है । **तृतीय अध्याय** में अन्नमय कोश सम्बन्धी मन्त्र हैं, जो योगासनों की भांति ही मानव के स्थूल शरीर को प्रभावित करते हैं ।

चतुर्थ अध्याय में प्राणमय कोश और प्राणायाम का महत्त्व दर्शाने वाले मन्त्र हैं । **पञ्चम अध्याय** में मनोमय कोश के लिए प्रत्याहार–'इन्द्रियों द्वारा चित्त का अनुसरण करने'–की उपयोगिता दृष्टिगत होती है ।

षष्ठ अध्याय में विज्ञानमय कोश को योगयुक्त करने के लिए धारणा-ध्यान-समाधि-रूप संयम की साधना तथा तज्जन्य विभूतियों के संकेतों को समझा गया है ।

सप्तम अध्याय में आनन्दमय कोश के चेतन होने पर मोक्ष की अनुभूति को जीवन्मुक्ति और परम पद में ही सदा रहने के रूप में देखा गया है, किसी मरणोपरान्त प्राप्तव्य लोक के रूप में नहीं। ऐसे भी विशेष स्थल मिलते हैं, जहां अमर पद और ईश्वर अभिन्न प्रतीत होते हैं ।

अष्टम अध्याय ईश्वर-परक है, जो योग का आदि गुरु है, जिसका प्रणिधान और जिसके प्रति अनन्य-भाव से समर्पण करना योग का सीधा सरल और निश्चित उपाय है ।

नवम अध्याय में विविध प्रार्थनाएं, प्रकारान्तर से ग्रन्थ का उपसंहार भी हैं । इनमें आत्मिक उन्नति, ऐश्वर्य, वैभव, सुख, आनन्द की कामनाएं व्यक्त हुई हैं ।

प्रत्येक वेद-मन्त्र के प्रारम्भ में 'ओंकार' का प्रयोग 'ओ३म्' 'ओम्' या 'ओं' इन तीन रूपों में क्यों क़िया गया है ? इसका विस्तृत स्पष्टीकरण

प्रमाण-सहित परिशिष्ट-३ में दिया गया है । विद्वज्जन कृपया उसे अवश्य देखें । सामान्य योग-साधकों एवं स्वाध्याय-प्रेमियों के लिए यहां इतना अवश्य कहना है कि यह भेद मुख्यतः शास्त्रीय है, उच्चारण में यह सूक्ष्म अन्तर प्रतीत ही नहीं हो पाता ।

योग-विषयक इन मन्त्रों का उपयोग योगोपयोगी **'स्वाध्याय'** को ऋषियों की प्रतिभा से प्रभावित तो करेगा ही। साथ ही, मन्त्रज सिद्धियां पाने के लिए भी इनका विनियोग *योग-यज्ञों* में किया जा सकता है । सामान्य यज्ञ भी स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर में विलक्षण विकास का साधन हुआ करता है, यह सभी याज्ञिकों की अनुभूति से सिद्ध हो चुका है । उसके साथ यदि प्रस्तुत ग्रन्थ में संकलित योग-साधना-प्रार्थी मन्त्रों को विनियुक्त किया जाए तो सूक्ष्म शरीर के साथ-साथ कारण शरीर के निर्मलीकरण एवं पोषण का मार्ग भी प्रशस्त होगा । ओजस्विता और तेजस्विता के साथ वर्चस्विता भी साधक को आयत्त हो सकेगी, ऐसा मानना निराधार नहीं है । मन्त्रों के सामर्थ्य में तो कोई सन्देह नहीं, अर्थों को पहचानने में चाहे हम से भूल हुई हो, और सम्भव है कि उनमें हम वह सामर्थ्य रूपान्तरित न कर पाये हों ।

एक बात और । इस ग्रन्थ में सम्पादन-सहयोग करते हुए मुझे अनुपम आह्लाद प्राप्त हुआ है । मन्त्रों को जितने भी अंश में हम समझ पाये हैं, वही हमें अमृत आनन्द का रसास्वाद कराने में नितान्त सक्षम रहा है । इस आनन्दानुभूति का अवसर प्रदान कर, और मुझे इस महत्त्वपूर्ण कार्य के योग्य मानकर स्वामी जी ने निश्चय ही मुझे कृतार्थ किया है । वेद-मन्त्रों में जिस दिव्यता का दर्शन हम अपनी सीमित क्षमता के अनुरूप कर पाये हैं, यदि उसका कुछ अंश भी पाठकों तक पहुंच पाये तो हम अपने श्रम को सार्थक समझेंगे।

—वेदव्रत आलोक

वेदेन यज्ञं, यज्ञेन योगं,
योगेन वेदं, वेदेन विद्याम् ।
अन्योन्यभावात् संवर्धयन्तो,
ब्रह्माण्डलोकं संजीवयामः ॥

योग-यज्ञ

सामान्यतः किये जाने वाले यज्ञ से योग-यज्ञ में क्या अन्तर है ? और हम यज्ञ क्यों करें ?

भौतिक अग्नि द्वारा सम्पादित यज्ञ प्रथमतः बाह्य इन्द्रियों से अनुभूत होता है । स्थूल शरीर के साथ-साथ निश्चय ही उससे सूक्ष्म शरीर भी परिशुद्ध और परिपुष्ट होता है । उसमें मन्त्रों का उच्चारण-मात्र करने तक वह केवल यज्ञ या हवन ही कहा जाएगा । इससे आगे जब यज्ञ में विनियुक्त मन्त्रों के अर्थों पर विचार-पूर्वक ज्ञान व प्रेरणा की प्राप्ति और तदनुसार जीवन-यापन का संकल्प लिया जाता है, तब हम 'योग-यज्ञ' कर रहे होते हैं ।

इस अध्याय में संकलित वेद-मन्त्रों से स्वयं स्पष्ट होता है कि—यज्ञ का स्वरूप कितना व्यापक है? इससे क्या लाभ हैं ? इसे किस प्रकार और कब करना चाहिए ?



योग-यज्ञ

योग-यज्ञ में सर्वत्र श्रेष्ठ वाणी एवं ध्वनियाँ

ओ३म् स्वाहा यज्ञं मनसः स्वाहोरोरन्तरिक्षात् ।
स्वाहा द्यावापृथिवीभ्याᳬं स्वाहा वातादारभे स्वाहा ।।१।।

—यजु० ४।६।।

मैं इस योग-यज्ञ को मनोनिग्रह के लिए नित्य अपने पवित्र मन से वेदोक्त वाणी के साथ प्रारम्भ करता हूँ। विस्तृत अन्तरिक्ष से ओंकार-नाद (के श्रवण) के साथ प्रारम्भ करता हूँ। द्युलोक, पृथिवी-लोक एवं वायुमण्डल से प्राप्त श्रेष्ठ हवि की आहुतियों, क्रियाओं एवं पुरुषार्थ के साथ यज्ञ करता हूँ।

योग-यज्ञाग्नि का वैशिष्ट्य

ओम् अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्नधातमम् ।।२।।

—ऋ० १।१।१।।

अध्यात्म-जगत् में सब के अग्रणी उस परमेश्वर के सब के भीतर स्थित योग-यज्ञाग्नि-रूप की हम स्तुति करते हैं। सृष्टि की उत्पत्ति के समय से पहले भी वह प्रकृति को धारण करता है। सृष्टि में प्रवर्तमान सतत यज्ञ को अपनी दिव्य शक्ति से वही प्रकाशित कर रहा है। यही उसकी देवपूजा है। उस यज्ञ के लिए प्राकृतिक नियमों का रचयिता होने से ऋतु आदि परिवर्तनों में संगतीकरण करने से वही उपासनीय है। इस सृष्टि-यज्ञ में प्राकृतिक शक्तियों की निरन्तर क्रियाशीलता-रूप हवि दान देने वाला 'होता' वह ही है। इसी प्रकार, रमणीय प्रकृति के विविध रूपों, पृथ्वी तथा रत्नों आदि को धारण करने में भी वह ही सर्वोत्तम है।

परमात्मा ही यज्ञ-विस्तारक है

ओं त्वमग्ने सप्रथा असि जुष्टो होता वरेण्यः ।
त्वया यज्ञं वि तन्वते ॥३॥

—ऋ० ५।१३।४॥

हे योग-यज्ञाग्नि रूप परमेश्वर ! तुम सर्वत्र विस्तृत और व्याप्त हो । इसलिए योग-यज्ञ में आप की उपासना होती है और आप ही स्वयम् इसके वरणीय 'होता' हैं । धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि कराने वाले इस यज्ञ का विविध रूप में विस्तार आपके ही द्वारा होता है ।

योग-यज्ञ द्वारा ईश्वर ही यजनीय है

ओं यज्ञेन यज्ञम् अयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥४॥

—यजु० ३१।१६।—अथर्व० ७।५।१॥

'देवपूजा, संगतिकरण और दान' अर्थात् ईश्वर-प्रणिधान, ईश्वर-सन्निधि और ईश्वरार्पण द्वारा उस सर्वगुरु परमेश्वर को दिव्य गुणवान् उपासक पूजते रहे हैं । ये ही धार्मिक कृत्य प्राथमिक रहे हैं, प्रारम्भ से प्रमुख कहे गये हैं । ऐसी उपासना करने वाले साधक महिमामण्डित होकर शोकरहित आनन्दपूर्ण स्थानों को प्राप्त होते हैं । वहां पहले के साधना-सम्पन्न सिद्ध दिव्य उपासक प्रतिष्ठित रहते हैं ।

इसी यज्ञ के समान सृष्टि-यज्ञ भी सतत चल रहा है

ओं यो यज्ञो विश्वतस् तन्तुभिस्तत एकशतं देवकर्मेभिरायतः ।
इमे वयन्ति पितरो य आ ययुः प्र वयाप वयेत्यासते तते ॥५॥

—ऋ० १०।१३०।१॥

यह विश्वरूप यज्ञ चारों ओर विस्तृत करने वाले कारण-तन्तुओं द्वारा बुना गया है । यह एक सौ एक (१०१) देवकर्मों से, दिव्य गतियों से दीर्घ विस्तार को प्राप्त हुआ है । ये पालक शक्तियां इस जगत् में सब ओर से व्याप्त होकर समग्र विश्व का ताना-बाना बुनती हैं । इस विस्तृत ब्रह्माण्ड में 'आगे बुनो, पीछे बुनो' ऐसी प्रेरणा करती हुई सदा स्थित रहती हैं ।

[ये १०१ शक्तियां आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री के अनुसार इस प्रकार हैं– वसु-८, आदित्य-१२, रुद्र-११, विश्वेदेवाः-११, मरुत्-४९, विश्वसृजः-१०=१०१]

सृष्टि–यज्ञ के माध्यम से परमात्मा ही मानो समृद्ध होता रहता है

ओं यज्ञो बभूव स आ बभूव स प्र जज्ञे स नु वावृधे पुनः।
स देवानामधिपतिर्बभूव सो अस्मासु द्रविणमा दधातु ॥६॥

–अथर्व० ७।५।२॥

सृष्टि-यज्ञ सर्वत्र विद्यमान है, वह परमात्मा भी सभी तरफ विद्यमान है। विविध जीवों एवं पदार्थों के जन्म के रूप में मानो उसी परमात्मा ने प्रकृष्ट जन्म लिया। उनके संवर्धन-समृद्धि के रूप में मानो उसी सर्वव्यापक का संवर्धन हुआ। समस्त दिव्य-शक्तियों का वही अधिपति बना। वह हम सब में उत्तम आधिभौतिक, आधिदैविक व आध्यात्मिक द्रव्यों का आधान करे। [सृष्टि को ईश्वर का ही 'विवर्त्त' बताने वाले वेदान्तियों को इस मन्त्र से कुछ पोषण अवश्य प्राप्त हो सकता है। किन्तु यहां ईश्वर की सर्वव्यापकता को पुष्ट करने के लिए ऐसा कथन हुआ है, न कि उसे ही 'उपादान कारण' बताने के लिए। वस्तुतः सृष्टि के प्रत्येक कण में और प्रत्येक क्रिया में उसकी उपस्थिति सदा बनी रहती है। अतः वह केवल कर्ता-रूप में जीवों में ही नहीं, प्रत्युत जड़-उपादानों व निर्मित पदार्थों में भी सदा विद्यमान है।]

यज्ञ के मन्त्र और हवि से भी अधिक परमेश्वर का
ध्यान ओजस्विता देता है

ओं यत् पुरुषेण हविषा यज्ञं देवा अतन्वत।
अस्ति नु तस्मादोजीयो यद् विहव्येनेजिरे ॥७॥

–अथर्व० ७।५।४॥

दिव्य-गुणों के साधक विज्ञ उपासक पूर्ण ब्रह्माण्ड-रूप पुरी में और अपने शरीर में सर्वत्र विद्यमान उस पुरुष परमेश्वर को हवि बनाकर ध्यान-यज्ञ का विस्तार करते हैं। इसी कारण ऐसा ध्यान-यज्ञ सामान्य यज्ञ की अपेक्षा अधिक ओजस्वी होता है, क्योंकि इस में वे बिना भौतिक हव्य के विशिष्ट ईश्वरीय हव्य द्वारा ही आहुतियां देते हैं। [इस मन्त्र का पूर्वार्ध यजुर्वेद ३१।१४ से एवं ऋग्वेद के पुरुष सूक्त से ज्यों का त्यों लिया गया है।]

एकांगी नहीं, सर्वाङ्गीण यज्ञ ही प्रशस्य है

ओं मुग्धा देवा उत शुनाऽयजन्तोत गोरङ्गैः पुरुधाऽयजन्त ।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः ॥८॥

—अथर्व० ७।५।५॥

वे दोनों प्रकार के विद्वान् पुरुष मुग्ध हैं, विवेक रहित हैं, जो या तो केवल वायु के माध्यम से, (अर्थात् बिना ध्यान किये और बिना अग्नि प्रदीप्त किये, मन्त्र बोलकर ही) वायवीय मन्त्र-यज्ञ करते हैं; अथवा केवल पृथ्वी से बने घी-सामग्री आदि पार्थिव पदार्थों से बहुविध यज्ञ सम्पादित करते हैं, (उचित मन्त्र एवम् ध्यान का प्रयोग नहीं करते ।) इन दोनों की अपेक्षा, जो इस सर्वाङ्गीण यज्ञ को मननपूर्वक जानता है, उसके विषय में हमें बताओ, और यहीं हमारे समक्ष यज्ञवेदी पर बुलाओ ।

यज्ञ द्वारा सूक्ष्म दृष्टि

ओम् अयं दीर्घाय चक्षसे प्राचि प्रयत्यध्वरे ।
मिमीते यज्ञमानुषग् विचक्ष्य ॥९॥

—ऋ० ८।१३।३०॥

योग-साधक यह विद्वान् यजमान अधिक ज्ञान एवं दूर-दृष्टि के लिए पूर्व दिशा में सूर्य-देव का प्रकाश-यज्ञ प्रारम्भ हो जाने पर प्रतिदिन उषः-काल में भलीभांति देखभाल कर यज्ञ को सम्पन्न करता है ।

यज्ञ से ईश्वर-मैत्री

ओं त्वां जना मम संत्येष्विन्द्र सन्तस्थाना विह्वयन्ते समीके ।
अत्रा युजं कृणुते यो हविष्मान् नासुन्वता सख्यं वष्टि शूरः ॥१०॥

—ऋ० १०।४२।४॥

हे परम शक्तिशाली ईश्वर ! जीवन के विविध संग्रामों में संघर्षरत अथवा वास्तविक युद्ध में भी सभी आपको पुकारते हैं । ऐसी स्थिति में श्रद्धापूर्वक हवि देने वाला ही सच्चे योग-साधक के रूप में आप का साथी बन पाता है । वह शूरवीर पुरुष-विशेष योग-यज्ञ न करने वाले से मैत्री नहीं चाहता ।

यज्ञ द्वारा उदारता एवं मानव-मैत्री

ओं ये यज्ञेन दक्षिणया समक्ता सख्यममृतत्वमानश ।
तेभ्यो भद्रमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥११॥

—ऋ० १०।६२।१॥

जो यज्ञ द्वारा विद्वानों की उदार दक्षता से संगत होते हैं, और परमेश्वर के मित्र-भाव अमृतत्व को पा लेते हैं; हे ज्ञानवान् साधको, तपस्वियो ! उनके प्रभाव द्वारा आप का समग्र कल्याण हो । हे उत्तम बुद्धि वाले सज्जनो ! आप लोग उन्हीं मुक्त-पुरुषों की तरह मानवता को स्वीकार करो, (क्योंकि वहां मानव-मात्र में ईश्वर का निवास होने से उसकी मैत्री का साधन मानव-मैत्री ही है ।)

यज्ञ द्वारा दिव्य शक्तियों का आधान

ओं समिदसि सूर्यस्त्वा पुरस्तात् पातु कस्याश्चिदभि शस्त्यै ।
सवितुर् बाहूस्थऽऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थं,
देवेभ्यऽआ त्वा वसवो रुद्राऽआदित्याः सदन्तु ॥१२॥

—यजु० २।५॥

हे अग्निहोत्र ! तुम समिधा हो और उस रूप में तुम्हें पहले सूर्य पवित्र करता है; अपनी रश्मियों से कीटाणु-रहित करता है । तुम्हारा यह रूप प्रकृति की कुछ ऊर्जा-शक्तियों को प्रकट करता है । आदान-प्रदान रूप सूर्य की दो भुजाओं पर तुम स्थित हो । दिव्य शक्तियों को पाने के लिए तुम्हारे समीप मैं ऊन का नरम और स्थित होने में सुखद आसन बिछाता हूँ । तुम्हारे माध्यम से ८ वसु, ११ रुद्र तथा १२ आदित्यों की शक्तियां उपस्थित हों । [योग-यज्ञ में साधक के कर्म ही समिधा रूप होते हैं, और अष्टांग-योग-रूपी सूर्य से शुद्ध पवित्र होकर किन्हीं विभूतियों का प्रकटीकरण होता है । सब के प्रेरक सविता देव प्रभु की प्रेरणा और कृपा रूप दो भुजाओं में स्थित योग-यज्ञ में, स्थिर और सुखद आसन द्वारा दिव्य-गुणों का आधान होता है ।]

यज्ञ द्वारा सृष्टि में सन्तुलन

ओम् अग्ने वेर्होत्रं वेर्दूत्यमवतां त्वां द्यावापृथिवी अव त्वं द्यावापृथिवी।
स्विष्टकृद्देवेभ्यऽइन्द्रऽआज्येन हविषा भूत् स्वाहा सं ज्योतिषा ज्योतिः॥१३॥

—यजु० २।९॥

हे ऊर्जा रूप में सर्वत्र व्याप्त अग्नि-रूप प्रभो ! आप अग्निहोत्र को और उसके दूत-कर्म को भलीभांति जानते हो । द्युलोक और पृथिवी-लोक स्थान प्रदान कर आपकी इस भौतिक अग्नि की रक्षा करते हैं । और आप का यह अग्नि-रूप भी द्यावापृथिवी की रक्षा करता है । हमारी अच्छी इच्छाओं के साथ किया यह योगयज्ञ सभी दिव्य शक्तियों के संर्वधन हेतु हो । घृत और हवन सामग्री द्वारा इन्द्रियों का स्वामी यह मन और आत्मा प्रसन्न हो । इन अच्छी वैदिक सूक्तियों से हमारी आत्म-ज्योति आपकी श्रेष्ठ ज्योति से संगत हो ।

यज्ञ से पवित्र ज्ञान एवं माधुर्य

ओं देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय । दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतन्नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु ॥१४॥

—यजु० ११।७॥

सत्य योगविद्या द्वारा उपासना-योग्य और सर्व-सिद्धिप्रद देव सविता ! आप हमारे समग्र ऐश्वर्य के लिए हमारे योग-यज्ञ को और इसके पालक-पोषक-रक्षक गुरु को भी प्रेरित करते रहिए । आप शुद्ध गुण-कर्म-स्वभाव के कारण दिव्य हैं, समग्र पृथ्वी आदि लोकों को धारण करते हैं, और अपने विशिष्ट ज्ञान-सामर्थ्य से सब को पवित्र करते हैं । आप हमारे विज्ञान को पवित्र कीजिए । वाणियों के स्वामी आप हमारी वाणी को भी मधुर बनाइए ।

यज्ञ में स्तवन और गायन सफल हों

ओम् इमं नो देव सवितर्यज्ञं प्रणय देवाव्यꣳ सखिविदꣳ सत्राजितꣳ धनजितꣳ स्वर्जितम् । ऋचा स्तोमꣳ समर्धय गायत्रेण रथन्तरं बृहद् गायत्र-वर्त्तनि स्वाहा ॥१५॥

—यजु० ११।८॥

सत्य कामनाओं को पूर्ण करने वाले अन्तर्यामी होकर प्रेरणा देने वाले देव सवितः ! हमारे इस योग-यज्ञ को प्रगति-पथ पर ले चलिए । यह यज्ञ दिव्य गुणों एवं विद्वानों का रक्षक है, मित्रों की पहचान सिखाता है , सत्य के द्वारा सर्वत्र विजय दिलाता है, धन और सुख को बढ़ाता है । इस में प्रयुक्त वैदिक ऋचाओं से हमारी स्तुति को सफल-समृद्ध कीजिए । इसमें गायत्री आदि छन्दों के गायन से 'रथन्तर' और 'बृहद्-गायत्र' नामक सामगान की क्रियाओं में हम उत्तम वाणी का प्रयोग करें ।

यज्ञ से वैभव-सम्पन्नता

ओं ज्योतिर्यज्ञस्य पवते मधु प्रियं पिता देवानां जनिता विभूवसुः ।
दधाति रत्नं स्वधयोरपीच्यं मदिन्तमो मत्सर इन्द्रियो रसः ॥१६॥

—साम० १०३१ (उत्तर० ७।४।१)॥

सब दिव्य शक्तियों का स्वामी, सब का जनक, सर्वत्र व्याप्त वस्तुओं वाला, वह परमेश्वर यज्ञ की ज्योति को मधुर और प्रिय बनाकर पवमान सोम रस में प्रत्यावर्त्तित कर देता है । ऐश्वर्यशाली सिद्धों को प्रिय यह सोमरस सर्वाधिक आनन्दवर्धक एवम् उत्साह-शक्ति-सम्पन्न है जो अन्तरिक्ष और भूलोक के रहस्यमय श्रेष्ठ रत्नों को यजमान के लिए उपस्थित कर देता है ।

यज्ञ से यश और ऐश्वर्य

ओम् अग्ना यो मर्त्यो दुवो धियं जुजोष धीतिभिः ।
भसन्नु ष प्र पूर्व्य इषं वुरीतावसे ॥१७॥

—ऋ० ६।१४।१॥

जो मनुष्य ईशस्तुति-उपासना-सहित अग्निहोत्र करता है तथा सद्बुद्धि-प्रेरित वैज्ञानिक कर्म करता है । वह सब का अग्रणी बन कर यशस्वी होता है और अपनी सुरक्षा हेतु धन-धान्य को प्राप्त करता है ।

कर्मयोगी ही ऐश्वर्य पाता है

ओं स्रक्वे द्रप्सस्य धमतः समस्वरन्नृतस्य योना समरन्त नाभयः।
त्रीन्त्स मूर्ध्नो असुरश्चक्र आरभे सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन् ॥१८॥

—ऋ० ९।७३।१॥

प्रतिदिन कर्म में संलग्न कर्मयोगी कर्मयज्ञ के मूर्धास्थानी एवं केन्द्रीभूत हैं । वे यज्ञ के कारण-भूत श्रेष्ठ कर्म में क्रियाशील रहते हुए ही सांसारिक यात्रा करते हैं । उन्हीं के कर्मों के समारंभ-हेतु उस ईश्वर ने तीन मूर्धन्य श्वास, प्रश्वास एवं स्तम्भन रूप प्राण-स्थितियों की रचना की है । और सत्य की नौका-रूप कर्मयज्ञ ही शुभ कर्मशील को ऐश्वर्य से परिपूर्ण करता है । [अतः शरीर के समग्र स्वास्थ्य के लिए जैसे यथोचित प्राणायाम-साधना अपेक्षित है; वैसे ही मनः-स्वास्थ्य के लिए सत्याचरण से उपार्जित ऐश्वर्य ही सच्चा आनन्द देता है ।]

यज्ञयोग/भक्ति/साधना की स्वीकृति के लिए निवेदन

ओम् इन्द्र पिब स्वधया चित् सुतस्याग्नेर्वा पाहि जिह्वया यजत्र ।
अध्वर्योर्वा प्रयतं शक्र हस्ताद्धोतुर्वा यज्ञं हविषो जुषस्व ॥१९॥

—ऋ० ३।३५।१०॥

हे ऐश्वर्यशाली परमेश्वर ! हमारी साधना से निष्पन्न भक्ति-रस को आप अपनी पोषक शक्ति से ग्रहण कीजिए । साथ ही हे यजनीय देव ! यज्ञाग्नि की ज्वाला-रूपी जिह्वाओं से हमारी उत्तम भावनाओं की रक्षा कीजिए । हे सर्वशक्ति-सामर्थ्यवान् प्रभु ! पवित्र और व्यापक यज्ञ में अध्वर्यु यज्ञ-प्रेमियों के हाथों से, और होता की हवियों द्वारा की गई सृष्टि-सेवा को स्वीकार कीजिए ।

यज्ञ में ईश्वर का आह्वान

ओं वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं वाजे अद्या हुवेम ।
स नो विश्वानि हवनानि जोषद् विश्व-शम्भूरवसे साधुकर्मा ॥२०॥

—ऋ० १०।८१।७॥

आज हम योग-यज्ञ में वेद-वाणियों के स्वामी, समस्त जगत् के कर्ता और मन के समान वेग वाले परमेश्वर का अपनी रक्षा तथा ऐश्वर्य-सिद्धि के लिए आह्वान करते हैं । सब का कल्याण करने वाला और उत्तम कर्म वाला वह परमेश्वर हमारे योग की रक्षार्थ हमारी सभी स्तुतियों तथा आहुतियों को स्वीकार करता है ।

यज्ञ द्वारा ईश्वर का संवर्धन

ओं तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि ।
बृहच्छोचा यविष्ठ्य ॥२१॥

—साम० ६११॥

हे प्रकाशस्वरूप, सर्वत्र व्याप्त प्रभो ! तुझ अग्निरूप को हम अपनी वृत्ति-रूप समिधाओं और श्रद्धारूप घृत से संवर्धित करें । [तेरा हमारे अन्तःकरण में प्रकाशन, अथवा तुम्हारा सर्व-हितकारी कार्य इस यज्ञ द्वारा सम्पादित करना ही तेरा संवर्धन है ।] हे अतिशय बलिष्ठ भगवन् ! तुम हमें अतिशय पवित्र कर दो । [यज्ञ के समय केवल बाह्य अग्नि ही नहीं, आभ्यन्तर अग्नि भी दीप्ततर होती है ।]

यज्ञ द्वारा व्यापक ईश्वर का ज्ञान

ओम् एतद् वै ब्रध्नस्य विष्टपं यदोदन : ।।२२।।
ओं ब्रध्न-लोको भवति ब्रध्नस्य विष्टपि श्रयते य एवं वेद ।।२३।।
ओम् एतस्माद् वा ओदनात् त्रयस्त्रिंशतं लोकान् निरमिमीत प्रजापतिः ।।२४।।
ओं तेषां प्रज्ञानाय यज्ञमसृजत ।।२५।।

—अथर्व० ११।३।५०-५३।।

यही है ब्रह्माण्ड का आश्रय, इसे (आ+उद्+अन्=सर्वत्र प्राण-शक्तिरूप) 'ओदन' कहते हैं ।।२२।। पूरा ब्रह्माण्ड उसका घर हो जाता है और समस्त ब्रह्माण्ड के आश्रय ब्रह्म में स्थित होता है, जो यह जान जाता है ।।२३।। प्रजापति ने इसी 'ओदन' से ३३ लोकों और उनके दर्शनीय देवों का निर्माण किया है ।।२४।। इन सभी लोक-लोकान्तरों और उनके अधिकारी देवताओं को जानने के लिए यज्ञ का सृजन भी उसी प्रजापति ने किया ।।२५।।

[विद्वानों ने कुल ३३ लोकों या देवों की गणना इस प्रकार की है :- (वसु या) ग्रह-८, रुद्र-११, आदित्य-१२, इन्द्र और यज्ञ-२ । कुछ विद्वान् यहां प्रजापति को गिनते हैं, यज्ञ को नहीं । किन्तु रचना करने वाले प्रजापति को भी निर्मित लोकों में कैसे माना जा सकता है ?]

सृष्टि-यज्ञ की मानव शरीर से समानता

ओं चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।
श्रोत्राद् वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ।।२६।।

—यजु० ३१।१२।।

ओं नाभ्याऽआसीदन्तरिक्षꣳ शीर्ष्णो द्यौः समवर्त्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकाँ२ऽअकल्पयन् ।।२७।।

—यजु० ३१।१३।।

जो यह सब जगत्, कारण-रूप प्रकृति से ईश्वर की दिव्य-शक्तियों ने रचा है, इसमें चन्द्र-लोक मन के समान हुआ, और सूर्य चक्षु के समान ज्योतिरूप सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ । वायु और प्राण श्रोत्र या शब्द के समान हुए, तथा मुख के तुल्य ज्योतिर्मय अग्नि, भक्षण-सामर्थ्य से बना है ।

इस सृष्टि में अन्तरिक्ष नाभि के समान मध्य में स्थित होकर अवकाश रूप है। सिर के तुल्य उत्तम चिन्तन-सामर्थ्य से युक्त प्रकाशमय द्युलोक सम्यक् विद्यमान है। आधारभूत दो पैरों के समान भूमि या भौतिक तत्त्व हैं। श्रोत्र के समान शब्द को अवकाश देने वाली दसों दिशाएं हैं। इसी प्रकार अन्य लोकों की रचना भी उसी परम पुरुष की शक्तियों ने की।

यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे

ओम् अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधाम्यन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम्।
सजूर्देवेभिरवरैः परैश्चान्तर्यामे मघवन् मादयस्व ॥२८॥

—यजु० ७।५॥

"तेरे भीतर ही द्युलोक के तेज और प्रकाश को तथा पृथ्वी के भौतिक तत्त्वों, पञ्चभूतों को मैं स्थापित करता हूं। रिक्त स्थान के रूप में मैंने विस्तृत-व्यापक अन्तरिक्ष भी तेरे भीतर रखा है। अपने अत्यन्त समीप स्थित मित्र-रूप दिव्य शक्तियों के साथ तथा दूरस्थ दिव्य-पदार्थों एवं विद्वानों के साथ हे ऐश्वर्य-युक्त साधक आभ्यन्तर नियमों के अनुपालन द्वारा आनन्द में रहो।"

यहां ईश्वर की ओर से मानव को स्पष्ट आश्वासन दिया गया है कि योग द्वारा अपने अन्तरतम की गहराइयों में उतर कर वह पूरे ब्रह्माण्ड के ज्ञान और आनन्द को साक्षात् अनुभव कर सकता है।

अष्टांग और षडंग योग का साधन

ओम् इमं यवमष्टायोगैः षड्योगेभिरचर्कृषुः।
तेना ते तन्वो३रपोऽपाचीनमप व्यये ॥२९॥

—अथर्व० ६।९१।१॥

परमात्मा की ओर से योग-साधक के लिए यह आश्वासन भी है:—

'हे साधक! तेरे मानव-तन में इस योगाभ्यास रूप यव (जौ) के अंकुर को अष्टांग-योग द्वारा तथा षडंग-योग द्वारा उपजाया गया है। तेरे इस शरीर से अपवित्रता और पाप-रूप छिलके को पृथक् करके मैं हटा देता हूं।' इस स्पष्ट निर्देश के अनुरूप अब यह हमारा कर्तव्य है कि अपनी पांचों ज्ञानेन्द्रियों एवं मन, इन छह अन्तःस्थ अंगों को महर्षि पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित योग के आठों अंगों यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि के अनुपालन

में अभ्यस्त करते हुए पूर्ण निर्मल निष्पाप बनें । [धारणा-ध्यान-समाधि को **'त्रयमेकत्र संयमः'** (योग० ३।४) के अनुसार तीन के स्थान पर एक कहा जा सकता है । छह अंगों वाला योग मानने का दूसरा आधार आगे देखें पृष्ठ ४२ पर]

दरिद्र भी यज्ञ कर सकता है :

आत्म-समर्पण द्वारा ईश्वर-प्रणिधान

ओं न हि मे अस्त्यघ्न्या न स्वधितिर्वनन्वति ।
अथैतादृग्भरामि ते ॥३०॥

—ऋ० ८।१०२।१९॥

हे प्रभो ! न तो मेरे पास गौ हैं और न ही वनों को छेदन करने वाला कुल्हाड़ा है, तो मैं ऐसा ही, रिक्त-हस्त तुझे धारण करता हूं ।

ओं यदग्ने कानि कानि चिदा ते दारूणि दध्मसि ।
ता जुषस्व यविष्ठ्य ॥३१॥

—ऋ० ८।१०२।२०॥

हे अग्ने ! जो-जो और जैसी-कैसी भी दुर्गुण-दुर्भाव-रूप विदारण करने योग्य समिधाएं तुझ में हम स्थापित करते हैं, हे अत्यन्त बलशालिन् ! उनको स्वीकार करो ।

अग्निहोत्र नित्य करने का विधान

ओं सायं सायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य दाता ।
वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम ॥३२॥

ओं प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायं सायं सौमनसस्य दाता ।
वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतं हिमा ऋधेम ॥३३॥

—अथर्व० १९।५५।३,४॥

गृह में स्थापित अग्नि प्रति-सायं और प्रति-प्रातः हमारा पालक-पोषक एवं सुख का दाता है । नानाविध धनों को धारण कराता है । इसको प्रदीप्त कर हम शरीर को पुष्ट करें, तथा (सौ वर्ष तक) फूलें-फलें ।

योग-यज्ञ में निरन्तर आहुतियों से दिव्य आनन्द

ओं यदि वीरो अनुष्यादग्निमिन्धीत मर्त्यः ।
आजुह्वद्-धव्यमानुषक् शर्म भक्षीत दैव्यम् ॥३४॥

—ऋ० ६।२।६॥ साम० ८२॥

यदि कोई साधक-वीर, साधना-शक्ति से सम्पन्न हो जाए और वह साधारण मरणधर्मा होता हुआ भी अपने भीतर योगाग्नि को प्रदीप्त कर ले; तथा निरन्तर प्राण-अपान रूप आहुतियों का योग-यज्ञ करता रहे तो वह अवश्य ही दिव्य आनन्ददायी सुख को भोगता है ।

पर्व-पर्व में अग्निचयन करें

ओं भरामेध्मं कृणवामा हवींषि ते चितयन्तः पर्वणा पर्वणा वयम् ।
जीवातवे प्रतरं साधया धियोऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥३५॥

—ऋ० १।९४।४॥

हम पर्व-पर्व में चयन करते हुए तेरे लिए ईन्धन, समिधा आदि लायें, हवियाँ समर्पित करें । हे अग्ने ! दीर्घ जीवन के लिए बुद्धियों और कर्मों को अत्यन्त उत्तम रीति से सिद्ध कर । तेरा सख्य हिंसित न हो । [स्वामी दयानन्द के अनुसार—''इस मन्त्र में श्लेष अलंकार है । सेना, सभा और प्रजा के पुरुषों को चाहिए कि जिस सज्जन पुरुष से बुद्धि वा पुरुषार्थ बढ़ें, उसके लिए सब सामग्री अच्छी प्रकार जुटायें, और उसके साथ मित्रता को न छोड़ें ।'']

योग-साधना में प्रमाद नहीं हो

ओम् इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति ।
यन्ति प्रमादमतन्द्राः ॥३६॥

—साम० ७२१॥

विद्वान् योगी जन योग-यज्ञ करने वाले उपासक को चाहते हैं, आलसी और यज्ञ-विहीन निद्रालु से स्नेह नहीं करते । योग-यज्ञ करने वाले उपासक प्रमाद और आलस्य से रहित होकर उत्कृष्ट आनन्द को प्राप्त होते हैं । [यहां लौकिक प्रमाद को छोड़कर अलौकिक 'प्रमाद'=प्रकृष्ट हर्ष की ओर बढ़ना अभीष्ट है ।]

उषः-काल से पूर्व साधना

ओं वयश्चित्ते पतत्रिणो द्विपाच्चतुष्पादर्जुनि ।
उषः प्रारन्नृतूँरनु दिवो अन्तेभ्यस्परि ॥३७॥

—साम० ३६७॥

हे साधना की प्रेरिका तथा शुभ-प्रकाशमयी उषा ! तुम द्युलोक के प्रान्त-भागों से आकर चारों और फैलती हो और सभी मनुष्यों व पशुओं को अपने-अपने कर्मों के लिए प्रेरित करती हो । आप हमें भी साधना-यज्ञ में सदैव प्रेरित करती रहो !

उषः-काल में भक्ति-विशेष से ईशानुकम्पां

ओम् अध क्षपा परिष्कृतो वाजां अभि प्र गाहसे ।
यदी विवस्वतो धियो हरिं हिन्वन्ति यातवे ॥३८॥

—साम० १६३१॥

ब्रह्म-मुहूर्त में स्वच्छरूप से प्रकट होने वाले हे परमेश्वर ! आप अपने उपासकों के 'तीव्र-संवेग' रूपी भक्तिरस के जल में प्रकर्ष-रूप से अवगाहन करते हो । तभी अविद्यान्धकार को निस्सन्देह नष्ट किए हुए उपासक की ध्यान-वृत्तियां आप दुःख-विनाशक को प्राप्त होने के लिए उसे प्रेरित करती हैं ।

उषःकाल में उपासना का लाभ

ओम् उषा अप स्वसुष्टमः सं वर्तयति वर्तनिं सुजातता ॥३९॥

—साम० ४५१॥

जैसे प्रातःकाल की उषा अपनी बहिन रात्रि के अन्धकार को हटाकर अपने मार्ग पर शुभंजन्म से आगे बढ़ती है, वैसे ही जीवन के आध्यात्मिक हृदयाकाश में प्रकट हुई आत्मज्योति अभ्यासी साधक के तामसिक अज्ञान को हटाकर उसे आगे बढ़ाती है ।

सूर्य-रश्मियों के साथ ब्रह्म-सायुज्य

ओम् आ त्वा सहस्रमा शतं युक्ता रथे हिरण्यये ।
ब्रह्मयुजो हरय इन्द्र केशिनो वहन्तु सोमपीतये ॥४०॥

—साम० २४५।१३९१॥

हे परमेश्वर ! जब तेजोमय सूर्य-रथ में जुते हुए लाखों-लाख प्रकाशमान रश्मि-रूपी अश्व आपका आह्वान करते हैं, तभी योग-युक्त-समाधि में आसन जमाए हुए हम उपासक अपने सौम्य शान्त भक्ति-रस का पान करने के लिए आपकी उपासना करें ।

उषः-काल में समृद्धि एवं ज्ञान का प्रकाश

ओम् अश्वावती गोमतीर् विश्ववारा यतमाना रश्मिभिः सूर्यस्य ।
परा च यन्ति पुनरा च यन्ति भद्रा नाम वहमाना उषासः ।।४१।।

—ऋ० १।१२३।१२।।

अश्वों और गौओं के पशुधन से समृद्ध, सारे विश्व द्वारा वरणीय, सूर्य की रश्मियों के साथ अन्धकार के निवारण में यत्नशील होकर ये परे चली जाती हैं; और फिर अगले दिन पलट कर लौट आती हैं । ऐसी उषाएँ कल्याणकारी ईश्वरीय-स्मरण-रूप नामों को सब की बुद्धि में पहुंचाती हैं ।

उषा हमें यज्ञ, ईश्वरीय आह्वान और शोभन वैभव दे

ओम् ऋतस्य रश्मिमनुयच्छमाना भद्रम्भद्रं क्रतुमस्मासु धेहि ।
उषो नो अद्य सुहवा व्युच्छास्मासु रायो मघवत्सु च स्युः ।।४२।।

—ऋ० १।१२३।१३।।

प्राकृतिक नियम के अनुरूप सूर्य-रश्मियों को अपने पीछे-पीछे सब को प्रदान करती हुई उषा देवी ! हम सब में अच्छे-अच्छे कर्मों यज्ञादि को धारण कराओ । आप हमें उत्तम ईश्वरीय आह्वान वाला बनाओ । हम में और अन्य ऐश्वर्यशालियों में भी शोभन-वैभव स्थापित करो ।

यज्ञ का समय

ओं प्रति वां सूर उदिते सूक्तैर्मित्रं हुवे वरुणं पूतदक्षम् ।
ययोरसुर्यमक्षितं ज्येष्ठं विश्वस्य यामन्नाचिता जिगत्नु ।।४३।।

—ऋ० ७।६५।१।।

हम प्रत्येक सूर्योदय काल में उपासनीय परमात्मा की मन्त्रों द्वारा यज्ञ-उपासना करें । जो उपासक इस काल में पवित्र नीति वाले अपरिमित बल वाले उस देव की उपासना करते हैं, वे अपने सब शत्रुओं को जीत लेते हैं ।

यज्ञ के विविध काल

ओं हवे त्वा सूर उदिते हवे मध्यंदिने दिवः ।
जुषाण इन्द्र सप्तिभिर्न आ गहि ॥४३॥

—ऋ० ८।१३।१३॥

हे सर्वद्रष्टा ईश्वर ! सूर्य के उदित होने पर मैं तुम्हारा आह्वान करता हूं। मध्याह्न-काल में तुम को भजता हूं। हे इन्द्र ! यद्यपि तू सर्पणशील पदार्थों में सर्वत्र रहता है, फिर भी तू हमारे पास आकर हम पर अनुग्रह करे।

त्रिसन्ध्या

ओं त्रिरस्मै सप्त धेनवो दुदुह्रिरे सत्यामाशिरं परमे व्योमनि ।
चत्वार्यन्या भुवनानि निर्णिजे चारूणि चक्रे यदृतैरवर्धत ॥४५॥

—साम० ५६०॥

इस उपासक के लिए सात दुधारु गौएँ (५ ज्ञानेन्द्रियां, बुद्धि व मन) हृदयाकाश में स्थित परम-शक्ति-स्रोत प्रभु से दिन-रात में तीन बार, अथवा त्रयी वेद-विद्या को, अथवा त्रिगुणात्मक प्रकृति को दुहा करती हैं। इस योग-यज्ञ में सच्चा आशीर्वाद उसे अवश्य प्राप्त होता है। इनके अतिरिक्त अन्य चार दुधारु गौएँ-(चतुर्विध वाक्-परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी) समस्त लोकों को-('भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः तपः, सत्यम्' शरीर और विश्व में स्थित इन सातों दिव्य स्थानों को) संशुद्ध करके उत्तम-सुन्दर बनाती हैं। इसी प्रकार यह मानव-जीवन शाश्वत प्राकृतिक नियमों से समृद्ध होता जाता है।

सूर्योदय के समय आध्यात्मिक यज्ञ

ओं यद् देवा देवान् हविषाऽयजन्तामर्त्यान् मनसाऽमर्त्येन ।
मदेम तत्र परमे व्योमन् पश्येम तदुदितौ सूर्यस्य ॥४६॥

—अथर्व० ७।५।३॥

ब्रह्म जिज्ञासु और ज्ञानी पुरुष उस परम पुरुष के प्रति आत्म-समर्पण-रूप हवि द्वारा तथा अविनाशी मनन-शक्ति द्वारा उसके सदा रहने वाले दिव्य गुणों को अपने में संगत करते हैं। हम भी उस परम विशिष्ट ओंकारमय हृदयाकाश में

अद्‌भुत आनन्द का अनुभव करें । सब के प्रेरक और प्रकाशक सूर्य का उदय होने पर हम उस परम प्रकाश का दर्शन करें ।

योगाभ्यास के लिए उपयुक्त स्थान

ओम् एष नृभिर्वि नीयते दिवो मूर्धा वृषासुतः ।
सोमो वनेषु विश्ववित् ॥४७॥

—साम० १२८८॥

जब उपासक एकान्त में साधना करता हुआ साधकों द्वारा विनीत कर लिया जाता है, तब द्युलोक का शिरोमणि सारे विश्व को जानने वाला आनन्द-रस-वर्षी परमेश्वर वनों में साधक में प्रकट होता है ।

ओम् अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठो अध्वरेष्वीड्यः।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशे विशे ॥४८॥

—ऋ० ४।७।१॥

हे मनुष्यो ! इस संसार में धारण करने वालों में वह प्रथम है और यज्ञों में सदा स्तुत्य है । जिस अद्‌भुत परमसत्ता को पाने के लिए साधक लोक जंगलों में विशेष रूप से उपासना करते हैं, अर्थात् उसे अपने चित्त में रमाते हैं, उस का आप सब भी ध्यान करो ।

साधना की स्थली : जहां मन रमे

ओं यत्र क्व च ते मनो दक्षं दधस उत्तरम् ।
तत्र योनिं कृणवसे ॥४९॥

—साम० ७०६॥

साधना के मार्ग पर अग्रसर हे साधक ! जहां कहीं तेरा मन उत्तरोत्तर दक्षता को, योगाभ्यास में उन्नति को धारण करता हो, उसी स्थान पर तुम अपना घर बनाकर रहो ।

जंगल में भी उत्तम निवास की प्रार्थना

ओं मोषु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्नहं गमम् ।
मृळा सुक्षत्र मृळय ॥५०॥

—ऋ० ७।८९।१॥

हे सर्वशक्तिमान् सर्वद्रष्टा परमात्मन् ! आप हम को मृत्तिका के अस्थायी और भंगुर घर मत दीजिए । मैं मिट्टी की गुफाओं में निवास न करूँ । [जंगल में भी मंगल करते हुए हमारा निवास उत्तम सुदृढ़ हो ।] हे जगदीश्वर ! आप हमें सुख दो, हम पर सदैव सर्वत्र दया करो ।

वनों में साधना

ओं पुनानो वारे पवमानो अव्यये वृषो अचिक्रदद्वने ।
देवानां सोम पवमान निष्कृतं गोभिरञ्जानो अर्षसि ।।५१।।

—साम० १०८०।।

स्वयं पवित्र तथा अन्यों को पवित्र करता हुआ उपासक क्लेश निवारक, अविनश्वर परमेश्वर के आश्रय में रहता हुआं वानप्रस्थी वन प्रदेशों में 'ओ३म्'-नाद को गुंजाता है, तथा अन्यों पर सदुपदेशों की वर्षा करता है । तदनन्तर हे सर्वप्रेरक, पवित्र करने वाले सौम्य प्रभो ! वेद-वाणियों द्वारा अथवा आनन्द व प्रकाश की रश्मियों के रूप में अभिव्यक्त हुए आप ऐसे निष्काम-कर्मी दिव्य उपासकों को अवश्य प्राप्त होते हैं ।

यज्ञ की रक्षा समस्त प्राकृतिक शक्तियां करें

ओम् आदित्या रुद्रा वसवः सुनीथा द्यावाक्षामा पृथिवी अन्तरिक्षम् ।
सजोषसो यज्ञमवन्तु देवा ऊर्ध्वं कृण्वन्त्वध्वरस्य केतुम् ।।५२।।

—ऋ० ३।८।८।।

आदित्य की राशियों के अनुसार बारह महीने, रुद्र-रूप दस प्राण, आप, ध्रुव, सोम, धर/धव, अनिल, अनल, प्रत्यूष व प्रभास नामक आठ वसुगण (जो प्राणि-निवास को सम्भव बनाते हैं) भली-भांति संयोजित द्युलोक, ग्रह-उपग्रह, पृथिवी और अन्तरिक्ष, ये सब सन्तुलित प्रेम-आकर्षण से समन्वित होकर सृष्टि-यज्ञ का संरक्षण कर रहे हैं । ये सब एवम् अन्य दिव्य शक्तियां हमारे इस अहिंसनीय योग-यज्ञ के प्रज्ञारूपी ध्वज को ऊंचा और उत्कृष्ट करें ।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ।।

—गीता ४।२५।।

☆ योग के आठ अंग ☆

महर्षि पतञ्जलि के अष्टांग-योग में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह' इन पांच यमों का तथा 'शौच, सन्तोष, तपस्, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान' इन पांच नियमों का स्थान सब से पहले है। तथापि इन दोनों अंगों का सम्बन्ध सामान्य जीवन में साधारण मनुष्य से भी उतना ही है, जितना कि किसी योग-साधक से। इस प्रकार, केवल योगाभ्यास से ही विशेष सम्बन्ध न होने के कारण, कुछ योगाचार्यों ने जैसे ध्यान-बिन्दूपनिषत्कार ने योग के शेष छः अंगों के आधार पर योग को षडंग भी कहा है। वेद-मन्त्रों में इन सभी पर अत्यन्त सुन्दर व स्पष्ट संकेत प्राप्त होते हैं। आगे आने वाली छह निधियों (अध्यायों) में योग के विविध अंगों और उनसे होने वाले प्रभाव का आकलन कुछ इस क्रम से किया जा सकता है :-

निधिः	योगाङ्ग	: प्रभावित जीवन-तत्त्व/कोश/शरीर	
द्वितीय :	यम	: सामाजिक शिष्टाचार	
	नियम	: व्यक्तिगत आचरण	
तृतीय :	आसन	: अन्नमय कोश	स्थूलशरीर
चतुर्थ :	प्राणायाम	: प्राणमय कोश	
पञ्चम :	प्रत्याहार	: मनोमय कोश	सूक्ष्मशरीर
षष्ठ :	धारणा, ध्यान, समाधि	: विज्ञानमय कोश	
सप्तम :	संयम, मोक्ष, जीवन्मुक्ति	: आनन्दमय कोश	: कारण-शरीर



यम-नियम

यम-नियम का पालन करने वाले ईश्वर को प्रिय हैं

ओ३म् त्वे अग्ने स्वाहुत प्रियासः सन्तु सूरयः ।
यन्तारो ये मघवानो जनानामूर्वं दयन्त गोनाम् ॥१॥

—साम० ३८॥

भक्तिपूर्वक स्वयं को आहुति बना कर आपके प्रति समर्पित होने वालों को प्राप्त हे प्रकाशस्वरूप प्रभो ! वे ईश्वर-प्रणिधानी अध्यात्म-विद्या-प्रवीण साधक आप को अत्यन्त प्रिय होते हैं, जो यम-नियमों का पूर्ण पालन करते हैं । इस योग-साधन से यौगिक-ऐश्वर्य-सम्पन्न होकर और अपनी इन्द्रियों पर संयम रखते हुए वे समस्त प्रजाजन का दयापूर्वक कल्याण करते हैं ।

यम-नियम के पालन से इच्छा-पूर्ति

ओम् उपयाम गृहीतोऽस्यन्तर्यच्छ मघवन् पाहि सोमम् ।
उरुष्य रायऽएषो यजस्व ॥२॥

—यजु० ७।४॥

हे योगाभिलाषी, योग-धन के साधक ! तुमने योग में प्रवेश पाने वाले नियमों को ग्रहण किया है । भीतर के प्राण, इन्द्रियों और मन को भी संयम में रखो । योग-विद्या द्वारा सिद्ध ईश्वर-भक्ति आदि ऐश्वर्य को सुरक्षित रखो, घटने मत दो । अपने अविद्या, क्लेश आदि शत्रुओं को नष्ट करते हुए योग की ऋद्धि-सिद्धि और अन्य इच्छा-पूर्तियों को सब भांति प्राप्त करो ।

यम-नियम पालन से सर्वप्रियता एवं मोक्ष भी प्राप्य है

ओं यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा वेन आ जनि ।
आ गा आजदुशना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे ।।३।।

—ऋ० १।८३।५

योग-विद्या के अभ्यास एवं प्रचार द्वारा अहिंसक प्रख्यात विद्वान् योग-मार्ग को प्रशस्त करता है । योग का विस्तार होने पर सूर्य के समान सत्य आदि व्रतों का पालन करने वाला वह विद्वान् सर्वथा कमनीय हो जाता है । केवल योग की इच्छा वाला वह क्रान्तदर्शी अपने योग-विज्ञान द्वारा पृथ्वी को सब ओर से अपने आकर्षण में बांध लेता है । उसके विज्ञान से हम सर्वनियन्ता के प्रसिद्ध अमर पद मोक्ष को प्राप्त हों ।

हिंसा और विरोध छोड़कर हम सब से सहयोग करें

ओं नकिर्देवा मिनीमसि नकिरा योपयामसि मन्त्रश्रुत्यं चरामसि ।
पक्षेभिरपि कक्षेभिरत्राभि संरभामहे ।।४।।

—ऋ० १०।१३४।७।।

हे विद्वान् गुरुजन ! हम कभी हिंसा नहीं करते । घात-पात, तोड़-फोड़ गड़बड़ या कटुवाणी द्वारा परस्पर विरोध भी नहीं करते । हम मन्त्र-ज्ञान के अनुसार आचरण करते हैं । अपने पक्ष वाले और विरोधी पक्ष वालों से भी सहयोग करते हुए हम यहीं उत्तम कार्यों का समारम्भ किया करते हैं ।

शक्ति और वैभव पाएं किन्तु हिंसा के लिए नहीं

ओं मा स्रेधत सोमिनो दक्षता महे कृणुध्वं राय आतुजे ।
तरणिरिज्जयति क्षेति पुष्यति न देवासः कवत्नवे ।।५।।

—ऋ० ७।३२।९।।

हे सौम्य स्वभाव वाले साधको ! निपुणता पूर्वक बल प्राप्त करो, किन्तु हिंसा मत करो । महान् शक्तिवर्धक वैभव भी अवश्य प्राप्त करो । उत्साहपूर्वक पुरुषार्थ करने वाला ही विजयी होता है, आनन्द में रहता और परिपुष्ट होता है । विद्वान् साधक कुत्सित कर्मों में फंसने के लिए नहीं है ।

शक्तियों पर मेरा संयम हो

ओं मा न इन्द्र पीयत्नवे मा शर्धते परा दाः ।
शिक्षा शचीवः शचीभिः ॥६॥

–साम० १८०६॥

हे परम ऐश्वर्यशालिन् ! हमारी हिंसा करने वाले काम–क्रोध आदि दोषों के, तथा तिरस्कृत करने वाली विघ्न–बाधाओं के अधीन हमें मत होने दीजिए। अपनी विशिष्ट नियामक शक्तियों द्वारा हमें भी आत्मवशी शक्तिशाली बनना सिखाइए।

हमारी आग्नेय शक्तियां हिंसक नहीं हों

ओं प्रेदग्ने ज्योतिष्मान् याहि शिवेभिरर्चिष्ट्वम् ।
बृहद्भिर्भानुभिर्भासन् मा हिंसीस्तन्वा प्रजाः ॥७॥

–यजु० १२।३२॥

सूर्य आदि ज्योतियों से संयुक्त हे अग्नि–शक्ति ! तुम निश्चय ही मंगलकारी किरणों से प्रकृष्टतर हो रही हो। महान् प्रकाश–गुणों से दीप्तिमान् होती हुई भी तुम प्रजाओं की शारीरिक हिंसा मत करो। [तात्पर्य यह है कि योग–साधना के फलस्वरूप आग्नेय शक्तियों का संवर्धन हमारे लिए और अन्य सभी के लिए भी कल्याणकारी ही हो। उसका जो प्रचण्ड, विध्वंसक रूप सम्भव है, उससे हमारी व अन्यों की सुरक्षा यहां अभीष्ट है।]

तीन प्रकार की अहिंसक वाणी

ओम् इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः ।
बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः ॥८॥

–ऋ० १।१३।९॥

'इळा' द्वारा स्तुति होती है। 'सरस्वती' अनेक प्रकार के ज्ञान–विज्ञान का आधार है। तीसरी 'मही' बड़ों के प्रति मान–सम्मान–पूजा की नीति सिखाती है। ये तीन प्रकार की हिंसा–रहित और सुखों को सम्पादित करने वाली दिव्य गुणों की साधक वाणियां हैं। हे विद्वान् साधको ! इन तीनों अहिंसक वाणियों को धारण करो।

हमारी प्रार्थनाएं हिंसा-रहित हों

ओम् अस्मे ता त इन्द्र सन्तु सत्याऽहिंसन्तीरुपस्पृशः ।
विद्याम यासां भुजो धेनूनां न वज्रिवः ॥९॥

—ऋ० १०।२२।१३॥

हे सब शक्तियों व ऐश्वर्यों के स्वामी परमेश्वर ! हमारी वे सभी क्रियाएं एवं प्रार्थनाएं जो आप के समीप आकर हम उपासना करते हुए करते हैं, वे सत्य हों, योगशक्ति सम्पन्न हों, किन्तु किसी की हिंसा न करें । उनका उपभोग हम उसी प्रकार अनुभव करें जैसे वज्र के समान शक्तिवर्धक, हिंसा आदि दोषों से दूर रखने वाले गौओं के दूध का करते हैं ।

हम हिंसा और क्रोध से बचें

ओं मा नो वधाय हत्नवे जिहीळानस्य रीरधः ।
मा हृणानस्य मन्यवे ॥१०॥

—ऋ० १।२५।२॥

हे सर्वद्रष्टा वरुण-रूप जगदीश ! जो अज्ञान से हमारा अनादर या अपराध कर के पछताए, उसे मारने या दण्डित करने के लिए तथा जो हमारे सम्मुख लज्जित हो, उस पर क्रोध करने के लिए हमें प्रेरित मत कीजिए ।

हमारा वैरभाव समाप्त हो

ओं विश्वा उत त्वया वयं धारा उदन्या इव ।
अति गाहेमहि द्विषः ॥११॥

—ऋ०२।७।३॥

हे प्रकाश-स्वरूप अग्नि-रूप प्रभो ! जैसे जल की धाराएं चट्टानों को पार कर जाती हैं, वैसे ही आपकी कृपा से हम समस्त शत्रु-वैर-वृत्तियों को पार कर जाएं ।

किन्तु, दण्ड-विधान हिंसा नहीं है

ओं यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम् ।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा ॥१२॥

—अथर्व०१।१६४॥

यदि हमारी गौ को मारेगा, यदि हमारे घोड़े और हमारे मनुष्य की हिंसा करेगा तो तुझ को हम सीसे की गोली से बींध देंगे, जिससे तू हमारे वीरों का नाश करने वाला न हो। [दुष्ट शत्रु के प्रति यह वीर-वचन अहिंसक ही है।]

सर्वकल्याणी अंहिसा आदि यमों के प्रेरणा-स्रोत

ओं स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।
पुनर्ददताऽघ्नता जानता संगमेमहि ॥१३॥

—ऋ० ५।५१।१५॥

हम सूर्य, चन्द्र की भांति नियम से कल्याण के मार्ग पर निर्बाध चलें। और निरन्तर प्रेरणा पाने व अनुसरण करने के लिए दानशील (उदार) व अहिंसक विद्वानों से मेल-मिलाप रखें।

दुष्ट कामना और हिंसा से अपनी ही हानि होती है

ओं न दुष्टुती मर्त्यो विन्दते वसु न स्त्रेधन्तं रयिर्नशत्।
सुशक्तिरिन् मघवन् तुभ्यं मावते देष्णं यत् पार्ये दिवि ॥१४॥

—ऋ० ७।३२।२१॥

दुष्ट स्तुति करने वाला मनुष्य उत्तम धन को नहीं पा सकता। वैसे ही, हिंसा करने वाले को भी लक्ष्मी नहीं मिलती। हे परम वैभवशालिन्! लौकिक एवं पारलौकिक श्रेष्ठ शक्ति तुम्हारे ही अधिकार में है। मुझ जैसे साधक के लिए आपका ऐश्वर्य प्रदान करने योग्य है, जिससे मैं अपनी धर्मयुक्त दिव्य कामनाओं को पूर्ण कर सकूं।

अंहिसा से ऐश्वर्य-अर्जन

ओं स रत्नं मर्त्यो वसु विश्वं तोकमुत त्मना।
अच्छा गच्छत्यस्तृतः ॥१५॥

—ऋ०१।४१।६॥

जो हिंसा-रहित मनुष्य है वह आत्मा, मन और प्राण से सब मनुष्यों के मनों में रमण करने वाले उत्तम द्रव्य और सब उत्तम गुणों से युक्त पुत्रों को अच्छे प्रकार प्राप्त होता है।

अहिंसा का मुख्य फल

ओम् अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे ।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु ॥१६॥

—अथर्व० १९।१५।५॥

प्रभु-कृपा से समस्त अन्तरिक्ष हमें निर्भय बनाता है । ये दोनों द्युलोक और पृथिवी लोक हमें अभय करते हैं । हमें अपने पीछे, सामने, ऊपर और नीचे सब ओर से कोई भय न हो ।

ओम् अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात् ।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥१७॥

—अथर्व० १९।१५।६॥

मित्र-शत्रु से, ज्ञात-अज्ञात से हमें भय न हो । हम रात-दिन अभय-भाव में रहें । सभी दिशाएं मेरी मित्र हो जाएं ।

हम सत्य का व्रत लें

ओम् अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम् ।
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ॥१८॥

—यजु० १५॥

हे व्रतों का पालन कराने वाले अग्नि ! मैं सन्नियमों के अनुपालन का व्रत लेता हूं, उसे मैं पूर्ण कर सकूं । मेरा यह व्रत सफल हो । यह मैं असत्य को छोड़कर सत्य को प्राप्त करता हूं ।

सत्यवादी मुक्त है

ओं ये ते पाशा वरुण सप्त सप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः ।
छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु ॥१९॥

—अथर्व० ४।१६।६॥

हे वरुण ! तुम्हारे वे पाश जो सात-सात करके तीन तरह से फैले हुए हैं और दुष्टों, दोषों का नाश करते हुए स्थित हैं, वे सब मिथ्यावादी को छिन्न-भिन्न करें, और जो सत्यवादी है, उसे और अधिक समृद्ध करें ।

विशेष : वरुणदेव के पाशों की इसी विशिष्ट संख्या का महत्त्व विचारणीय है। अथर्ववेद का प्रथम मन्त्र है–

ओं ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः ।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥

यह (३X७) त्रिक का सप्तक क्या है, जो वरुण का पाश-समूह भी बनता है और वाचस्पति का बलाधायी विविध-रूपधारी शक्ति-स्रोत भी ? कुछ प्रसिद्ध त्रिकों और सप्तकों को हम सभी जानते हैं । –'ईश्वर, जीव, प्रकृति'; 'सत्त्व, रजस्, तमस्'; 'ऋक्, यजुष्, साम'-रूप त्रयी विद्या; 'धर्म, अर्थ, काम'-रूप त्रिवर्ग; 'उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय' आदि अनेक त्रिक हैं । इसी प्रकार, संख्या में सात होने से लोक, व्याहृतियां, राज-प्रकृतियां, रंग, संगीत की सरगम आदि के सप्तक सर्वविदित हैं । यहां इन सभी प्रकार के त्रिकों और सप्तकों की ओर संकेत है । इसीलिए अगले ही मन्त्र में वरुण के पाशों की संख्या सैकड़ों कही गयी है ।

असत्यवादी बन्धन में रहता है

ओं शतेन पाशैरभिधेहि वरुणैनं मा ते मोच्यनृतवाङ् नृचक्षः ।
आस्तां जाल्म उदरं स्रंसयित्वा कोश इवाबन्धः परिकृत्यमानः ॥२०॥

–अथर्व॰ ४।१६।७॥

हे मनुष्यों के निरीक्षक वरुण देव ! कोई झूठ बोलने वाला तुम से बच न पाये, उसे सैकड़ों पाशों से बांध लो । वह जालिम अपने उदर को नीचे गिराकर, पेट पिचका कर, भूखा मरता हुआ, ऐसे पड़ा रहे जैसे पौधे से टूटी हुई, काटी हुई कली का कोश (मध्य भाग) हो ।

असत्य आचरण के पाप से हम बचें

ओं यदिन्द्र ब्रह्मणस्पतेऽपि मृषा चरामसि ।
प्रचेता न अङ्गिरसो दुरितात् पात्वंहसः ॥२१॥

–अथर्व॰६।४५।३॥

हे विशाल ब्रह्माण्ड के अधिपति इन्द्रदेव ! हम जो भी मिथ्या आचरण करते हैं । उस सभी मारक पाप कर्म से हमारे प्राणों की स्वामिनी आपकी प्रकृष्ट चेतना अर्थात् 'प्राणों का स्वामी प्रकृष्ट ज्ञानी वरुण-प्रभु' सदा हमें बचाता रहे ।

असत्य कभी सत्य के सामने नहीं ठहर पाता

ओं सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते ।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत् ॥२२॥

—ऋ० ७।१०४।१२॥

जो सच्चे तथा जो झूठे वचन परस्पर विरुद्ध होते हैं उनको विद्वान् लोग सहज में ही समझ लेते हैं । उन दोनों में जो सत्य है तथा जो सरल स्वभाव से कहा गया है, उसी की रक्षा परमात्मा करता है । और जो कपट भाव से कहा गया झूठा वचन है, उसका विनाश करता है ।

सत्य सदा से स्थित है

ओम् ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत ।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥२३॥

—ऋ० १०।१९०।१॥

सर्वतः प्रकाशमान परमेश्वर के दिये गये ताप से ऋत एवं सत्य सृष्टि नियम तथा कार्यरूप प्रकृति प्रकट होते हैं । उसी से प्रलय की रात्रि उत्पन्न होती है । उसी तप से जल युक्त आकाशीय समुद्र उत्पन्न होता है । [यह जगत् या इसके पदार्थ सत्य (सत्ता वाले) होते हुए भी सृष्टि-नियमों या मनुष्यों के द्वारा परिवर्तनीय हैं । अर्थात् रूप बदलते रहते हैं ।]

सत्यानुष्ठान से प्रभु-प्राप्ति

ओं नि त्वामग्ने मनुर्दधे ज्योतिर्जनाय शश्वते ।
दीदेथ कण्व ऋतजात उक्षितो यं नमस्यन्ति कृष्टयः ॥२४॥

—साम० ५४॥

हे प्रकाश-स्वरूप परमात्मा ! मैं मननशील साधक सनातन पुरुष की प्राप्ति के लिए तुझ ज्योति-स्वरूप का निरन्तर ध्यान करता हूं । सत्य-नियम के अनुष्ठान से प्रकट होने वाले आप महान् ईश्वर मुझ योग-बुद्धि वाले साधक में प्रकाशित हों । आपको और आपके उस दिव्य प्रकाश को सभी विद्वान् और कृषक (साधारण) मनुष्य भी नमस्कार करते हैं ।

सत्य-वक्ता की वाणी सफल होती है

ओम् ऋतस्य तन्तुर्विततः पवित्र आजिह्वाया अग्रे वरुणस्य मायया ।
धीराश्चित् तत् समिनक्षन्त आशतात्रा कर्तमव पदात्यप्रभुः ॥२५॥

—ऋ० ९।७३।९॥

सत्य-नियमों का विस्तार सर्वत्र है । सर्वद्रष्टा वरुण-प्रभु की शक्ति से वह पवित्र सत्यनिष्ठ योगी की जिह्वा के अग्रभाग पर भी उपस्थित होता है । (अर्थात् सत्यव्रती की वाणी सफल होती है ।) धैर्यशाली योगी ही इस सत्य-सिद्ध वाणी का सदुपयोग करते हैं । असंयमी और निष्क्रिय जन इस सत्य-कर्म के पद से च्युत हो जाते हैं ।

सत्य को जानने का मार्ग : ईश्वर का आह्वान

ओम् ऋतं चिकित्व ऋतमिच्चिकिद्ध्यृतस्य धारा अनु तृन्धि पूर्वीः।
नाहं यातुं सहसा न द्वयेन ऋतं सपाम्यरुषस्य वृष्णः ॥२६॥

—ऋ० ५।१२।२॥

मूल सत्य को जानने की इच्छा वाले हो, तो सत्य-ब्रह्म को निश्चय से जानो । शाश्वत सत्य की सनातन धाराओं का, वैदिक-वाणियों का, ऋषि-वचनों का अनुसरण करो और ज्ञान की बाधाओं को हटाओ । ज्ञानमार्ग पर मैं केवल अपने ही बल द्वारा या कार्य-कारण रूप तार्किक भौतिक द्वन्द्वात्मकता के सहारे ही नहीं चल सकता । इसलिए क्रोध न करने वाले उस दयालु एवं कृपावर्षी प्रभु द्वारा देने योग्य गहन सत्य को गम्भीरता से पुकारता हूं ।

प्रकृति के सत्य-नियमों पर पूरी सृष्टि आधारित है

ओं सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः ।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधिश्रितः ॥२७॥

—अथर्व० १४।१।१॥

सूर्य के आकर्षण रूप सत्य-सृष्टि नियम द्वारा भूमि उत्तमता से थामी गयी है । सूर्य के द्वारा ही द्युलोक का प्रकाश उत्तमता से स्थापित होता है । अन्य अखण्डनीय या अनश्वर पदार्थ भी सृष्टि-नियम के अधीन ही अपनी शाश्वत स्थिति बनाये हुए हैं । और देखो, सूर्य के तेजस्वी प्रकाश में सौम्य चन्द्रमा अवस्थित है ।

ऋत क्या है ?

ओम् ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर्ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति ।
ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द कर्णा बुधानः शुचमान आयोः ॥२८॥

—ऋ० ४।२३।८॥

सचमुच, 'ऋत'=प्राकृतिक नियमों की शक्तियां पूर्ण तथा सनातन काल से हैं। ऋत का चिन्तन-विचार और उसकी शक्तियों की धारणा त्याज्य=वर्जनीय पापों का नाश कर देती है। जीवन के रहस्यों को समझाता हुआ तथा पवित्र करने वाला समुज्ज्वल ऋत का वर्णन एवम् आचरण मनुष्य के बहरे कानों को भी खोल देता है।

प्राकृतिक नियमों के अनुपालन द्वारा ऋत-सत्य का अनुष्ठान

ओम् ऋतस्य दृळ्हा धरुणानि सन्ति पुरूणि चन्द्रा वपुषे वपूंषि ।
ऋतेन दीर्घमिषणन्त पृक्ष ऋतेन गाव ऋतमा विवेशुः ॥२९॥

—ऋ० ४।२३।९॥

शान्त और शीतल जल जिस प्रकार अपने स्वभाव में दृढ़ हैं, उसी प्रकार प्रकृति-नियमों का आचरण दृढ़ शान्ति देता है। सुवर्ण आदि से जैसे शरीर अलंकृत किया जाता है, वैसे ही यह ऋत का पालन शरीर को सुशोभित करता है। प्राकृतिक नियमों से जैसे अन्न का संवर्धन होता है, वैसे ही शरीर-संवर्धन द्वारा दीर्घायु प्राप्त होती है। जैसे गौएं अपने बछड़ों के पास स्वभावतः पहुंचती हैं, वैसे ही ऋत-पालन में प्रशिक्षित वाणियां शाश्वत सत्य ब्रह्म को ही प्राप्त होती हैं।

मानसिक सत्य

ओं नि गव्यता मनसा सेदुरर्कैः कृण्वानासो अमृतत्वाय गातुम् ।
इदं चिन्नु सदनं भूर्येषां येन मासाँ असिषासन्नृतेन ॥३०॥

—ऋ० ३।३१।९॥

कर्म करते हुए मनुष्य अपनी वाणी तथा अन्तःकरण से सत्कार करने योग्य विद्वानों के साथ सम्पर्क द्वारा मोक्ष के लिए प्रशंसा-युक्त भूमि को प्राप्त होते हैं। चैत्र आदि महीने के विभाग कर तदनुकूल ऋतु अनुसार सत्य आचरण करने की इच्छा करने से साधक का विशेष कल्याण शीघ्र होता है।

ओं तमग्ने पास्युत तं पिपर्षि यस्त आनट् कवये शूर धीतिम् ।
यज्ञस्य वा निशितिं वोदितिं वा तमित्पृणक्षि शवसोत राया ॥३१॥

—ऋ० ६।१५।११॥

अविद्या अन्धकार के नाशक हे प्रभु ! आप उसकी रक्षा करते व गुणों से भरते हैं, जो शूर-धीर साधक तुम्हें ज्ञान-स्वरूप जान कर तुम्हारी धारणा को अपने भीतर व्याप्त करता है। तुम उस के अन्तस् में यज्ञ की प्रखरता को जगाते हो तथा उसे बल एवं वैभव से सम्पन्न करते हो।

सत्य का सुफल

ओम् ईजे यज्ञेभिः शशमे शमीभिर्ऋधद्वारायाग्नये ददाश ।
एवा चन तं यशसामजुष्टिर्नांहो मर्तं नशते न प्रदृप्तिः ॥३२॥

—ऋ० ६।३।२॥

सेवा एवं सत्य-भाषण आदि द्वारा जो विद्वानों की संगति करता है, शुभ कर्मों से शान्त रहता है तथा समृद्धिशील एवं वरणीय अग्निहोत्र के लिए जो आहुतियां देता है, उसे धन, अन्न और यश की प्राप्ति न हो ऐसा, कभी नहीं हो सकता। उस मनुष्य को क्रोध, दम्भ और मोह भी प्राप्त नहीं होते।

चौर-कर्म की निन्दा तथा दण्ड-विधान

ओं नमो वञ्चते परिवञ्चते स्तायूनां पतये नमो नमो निषङ्गिणऽ इषुधिमते तस्कराणां पतये नमो नमः सृकायिभ्यो जिघाꣳसद्भ्यो मुष्णतां पतये नमो नमोऽसिमद्भ्यो नक्तंचरद्भ्यो विकृन्तानां पतये नमः ॥३३॥

—यजु० १६।२१॥

छल से पर पदार्थों का हरण करने वालों, चोरी कर्म से जीने वालों, रिश्वत आदि उपायों से परद्रव्यों का अपहरण करने वालों, तथा कपट का व्यवहार करने वालों को राजपुरुष दण्ड देवें। तथा ऐसे पापी जनों को दण्ड देने वालों या घात करने वालों का यथायोग्य सत्कार करना चाहिए।

ओम् अप त्यं वृजिनं रिपुं स्तेनमग्ने दुराध्यम् ।
दविष्ठमस्य सत्पते कृधी सुगम् ॥३४॥

—ऋ० ६।५१।१३॥

हे विद्वान् आचार्य ! आप उस त्यागने योग्य, चोर तथा दुःख से वश में करने योग्य अध्यात्म-विद्या-शत्रु को हम से दूर करो । हे सत्य-पालक गुरु ! इस शत्रु को सरलता से वशीभूत होने योग्य करो और हमसे नितान्त दूर भगा दो ।

अस्तेय-पालन

ओं सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात् ।
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीळे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ ॥३५॥

—ऋ० १०।५।६॥

क्रान्तदर्शी महर्षि जनों ने चोरी, पर-स्त्री-गमन, ब्रह्म-हत्या, गर्भपात, सुरापान, पाप की पुनरावृत्ति तथा झूठ बोलना इन पापों से बचना, ये सात मर्यादाएं बताई हैं । इनमें से एक का भी उल्लंघन करने से मनुष्य पापी हो जाता है। न्यून आयु के कारणों में गिरता है, जैसे रास्तों के चक्कर में अथवा गहरे जलों में डूबता है । [जो इन से पृथक् रहता है वह प्राप्तव्य उच्च स्थिति (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है ।]

ब्रह्मचर्य से दीर्घायु

ओं न तद्रक्षांसि न पिशाचास्तरन्ति देवानामोजः प्रथमजꣳ ह्येतत् ।
यो बिभर्ति दाक्षायणꣳ हिरण्यꣳ स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः
स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः ॥३६॥

—यजु० ३४।५१॥

यह ब्रह्मचर्य वह बल-पराक्रम है जो दिव्य गुण वाली आत्माओं में प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम की अवस्था में जन्म लेता है । इस ओजस्विता को आतंक फैलाने वाले 'राक्षस' या मांस-मदिरा आदि का सेवन करने वाले 'पिशाच' भी नीचा नहीं दिखा सकते । जो मनुष्य इस ब्रह्मचर्य की निपुणता और तेजस्विता को धारण करता है । वह विद्वानों में और सामान्य मनुष्यों में भी दीर्घायु वाला होता है ।

ब्रह्मचारी दोनों लोकों को लक्ष्य बनाता है

ओम् अर्वागन्यः परो अन्यो दिवस्पृष्ठाद् गुहा निधी निहितौ ब्राह्मणस्य ।
तौ रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तत् केवलं कृणुते ब्रह्म विद्वान् ॥३७॥

—अथर्व० ११।५।१०॥

वेदज्ञ-साधक की बुद्धि-रूप गुफा में दो प्रकार की ज्ञान-निधियां निहित हैं। एक का सम्बन्ध द्युलोक की पीठ से इधर के भूलोक से है, और दूसरे का सम्बन्ध उससे परे परलोक से है। ब्रह्म और वेद में विचरण करने वाला ब्रह्मचारी इन दोनों ऐहलौकिक एवं पारलौकिक निधियों को सुरक्षित रखता है। ब्रह्म को जानने वाला योगी केवल पारलौकिक ज्ञान को ही लक्ष्य बना लेता है, [क्योंकि उसका प्राप्तव्य केवल 'कैवल्य' ही होता है। इसीलिए जब तक ब्रह्मवित् न बने तब तक 'अविद्या' और 'विद्या' दोनों को अपनाए।]

ब्रह्मचर्य से राष्ट्ररक्षा

ओं ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥३८॥

—अथर्व० ११।५।१७॥

ब्रह्मचर्य के प्रबल प्रताप से ही राजा राष्ट्र की रक्षा करता है। आचार्य भी सच्चरित्र ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य के कारण ही चाहता है।

ब्रह्मचर्य से मृत्यु पर विजय

ओं ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥३९॥

—अथर्व० ११।५।१९॥

दिव्य कोटि के विद्वान् योगी ब्रह्मचर्य, वेदाध्ययन और द्वन्द्व-सहिष्णुता-रूप तप से मृत्यु के कारणों को नष्ट कर देते हैं। इन्द्र=परमात्मा ऐसे ब्रह्मचर्यव्रती योगियों को ही मोक्ष-रूप परम सुख देता है।

ब्रह्मचारी की मेखला से ज्ञान और तप बंधे हैं

ओं मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन् भूतात् पुरुषं यमाय ।
नयैनं मेखलया सिनामि ॥४०॥

—अथर्व० ६।१३३।३॥

मैं मृत्यु का ब्रह्मचारी हूं, क्योंकि मैं सर्वभूतों से संयम के लिए पुरुषार्थ मांग रहा हूं। मैं ज्ञान, तप और परिश्रम से अपने पौरुष को लाकर मेखला से बांधता हूं।

प्रभु-प्रेरणा ब्रह्मचर्य साधन में सहायक

ओं नीव शीर्षाणि मृढ्वं मध्य आपस्य तिष्ठति ।
शृङ्गेभिर्दशभिर्दिशन् ।।४१।।

—साम० १६६१।।

हे उपासको ! तुम अपने शिरों को खूब मांजो अर्थात् विचारों को शुद्ध बना लो, क्योकि परमेश्वर प्राणों एवं रस-रक्त के बीच स्थित रहता है । वह तुम्हें शृंगारमय दश विकारों के दुष्परिणामों से बचाकर जीवन का यथार्थ मार्ग दशा रहा है ।

ब्रह्मचारी में सारी शक्तियां होती हैं

ओं ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्ति तस्मिन् देवा अधि विश्वे समोताः।
प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम् ।।४२।।

—अथर्व० ११।५।२४।।

देदीप्यमान ब्रह्मचारी ब्रह्मज्ञान वेद का धारण-पोषण करता है, जिसमें सभी दिव्य शक्तियां ओत-प्रोत हैं । इसी से वह प्राण, अपान, व्यान, वेद-वाणी, मन, हृदय, परमेश्वर और मेधा=आशु-विद्या-सामर्थ्य की शक्तियों को प्रकट किया करता है ।

ब्रह्मचर्य द्वारा प्राणों की रक्षा की शक्ति

ओं पृथक् सर्वे प्राजापत्याः प्राणानात्मसु बिभ्रति ।
तान् सर्वान् ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्याभृतम् ।।४३।।

—अथर्व० ११।५।२२।।

प्रजापति की सब सन्तानें अपने पृथक्-पृथक् शरीर में प्राण धारण किये हुए हैं । व्यापक ब्रह्म उन सभी की रक्षा करता है । और ब्रह्मचर्य उनमें से साधक के ही प्राणों का भलीभांति सर्वथा धारण-पोषण करता है ।

ब्रह्मचर्य के साधन

ओं मनुष्वदिन्द्र सवनं जुषाणः पिबा सोमं शश्वते वीर्याय ।
स आ ववृत्स्व हर्यश्व यज्ञैः सरण्युभिरपो अर्णा सिसर्षि ।।४४।।

—ऋ० ३।३२।५

हे मननशील जितेन्द्रिय साधक ! योगैश्वर्य का उपभोग करते हुए सदा बने रहने वाले बल-वीर्य के लिए, शरीर व आत्मा के बल व विज्ञान को बढ़ाने वाली औषधियों के रस को पियो । आकर्षक तेजस्विता वाले ऐसे योग-साधक ! तुम उत्तम यज्ञ-कर्म एवं शिष्टाचार में वर्तमान रहो । रज और वीर्य को ऊर्ध्वगामी बनाने वाली मूलबन्ध सहित बाह्य-कुम्भक प्रणायाम आदि योगक्रियाओं द्वारा शरीर के सार को अन्तरिक्ष-स्थानी मस्तिष्क में पहुंचाओ ।

योग-साधक का अपने विविध अंगों पर विश्वास

ओं जिह्वा मे भद्रं वाङ् महो मनो मन्युः स्वराड् भामः ।
मोदाः प्रमोदा अङ्गुलीरङ्गानि मित्रं मे सहः ।।४५।।

—यजु॰ २०।६।।

योगाचरण करने वाले सभी साधकों के समान अन्य सभासद् भी प्रतिज्ञा करते हैं, कि मेरी शब्दोच्चारण करने वाली वाणी वेदशास्त्रों के बोध से युक्त हो। मेरा मन दुष्टाचरण करने वालों पर आक्रोशकारी हो ; एवं ज्ञान-प्रकाश करने वाली बुद्धि, हर्ष, उत्साह व उत्तमानन्द को प्राप्त करते हों तथा अंगुली आदि अङ्गोपाङ्ग मित्र के समान सहन-शक्ति से युक्त और मेरे सहायक हों ।

ओं बाहू मे बलमिन्द्रियं हस्तौ मे कर्मवीर्यम् ।
आत्मा क्षत्रमुरो मम ।।४६।।

—यजु॰ २०।७।।

योगयुक्त साधक साधना द्वारा उपलब्ध अपने आन्तरिक बल की, बाह्य अंगों एवम् इन्द्रियों के व्यवहार से तुलना करते हुए कहते हैं कि योग के द्वारा जो मुझे पूर्ण बल की प्राप्ति हुई है । वह मेरी भुजाओं के समान है । जो उत्तम कर्म और पराक्रम से युक्त इन्द्रिय एवं मन हैं, वे मेरे हाथों के समान हैं । जो राजधर्म, शौर्य, धैर्य और हृदय का ज्ञान है, ये सब मेरे आत्मा के समान हैं ।

साधक का अपने शरीर पर पूर्ण संयम होता है

ओं नाभिर्मे चित्तं विज्ञानं पायुर्मेऽपचितिर्भसत् ।
आनन्दनन्दावाण्डौ मे भगः सौभाग्यं पसः ।
जङ्घाभ्यां पद्भ्यां धर्मोऽस्मि विशि राजा प्रतिष्ठितः ।।४७।।

—यजु॰ २०।९।।

योग-साधक प्रशासक के रूप में प्रतिष्ठित होने का आधार अपने अंगों के प्रति इस आत्मविश्वास को मानता है कि, मेरी नाभि विज्ञानयुक्त, चित्त, पायु (=गुदा), प्रजा-जनक इन्द्रियां, आनन्द-स्रावी अण्डकोश, ऐश्वर्य और सौभाग्य के सभी साधन तथा लिङ्ग आदि सब मेरे हैं, अर्थात् मेरे वश में हैं। अपनी जङ्घाओं तथा पैरों से भी शुभ कर्म करता हुआ मैं पक्षपात-रहित, न्यायकारी और धार्मिक होकर प्रजा के प्रति व्यवहार करता हूं।

दान देकर शारीरिक अपरिग्रह का पालन

ओं शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर।
कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह ॥४८॥

—अथर्व० ३।२४।५॥

हे मानव! अनेकों धर्मयुक्त साधन रूप, सैकड़ों हाथों से पूर्ण परिश्रम के साथ संग्रह कर, पर अनेकों सुपात्र-रूप हजार हाथों से बिखेर दे, दान कर दे। इस प्रकार तू अपने किये और करने योग्य कर्तव्य के विस्तार को भली भांति सम्पन्न कर।

दान दो, क्योंकि धन चंचल हैं

ओं पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान्द्राघीयां समनु पश्येत पन्थाम्।
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रान्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः ॥४९॥

—ऋ० १०।११७।५॥

याचना करने वालों के लिए धन, दान आदि देकर प्रसन्न करे। इसके लिए दूर तक पहुंचाने वाले श्रेष्ठ मार्ग का अनुसरण करे। रथ-चक्र के समान ऊपर नीचे जाते हुए धन एक से दूसरे के पास जाते रहते हैं, सदा स्थायी नहीं होते।

त्यागसहित भोग व निर्लोभ अपरिग्रह

ओम् ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥५०॥

—यजु० ४०।१॥

इस जड़ चेतन जगत् में जो कुछ भी है वह सब उस परमेश द्वारा व्याप्त है। ऐसा जानकर त्याग-भाव से भोग करो। किसी के धन पर लालची गृध्र-दृष्टि मत रखो।

अपरिग्रह : भोगों का सभी में वितरण

ओं मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य ।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ॥५१॥

—ऋ० १०।११७।६॥

संकीर्ण मनोभाव वाले व्यक्ति का धन, अन्न पाना व्यर्थ ही है । सच कहें तो यह उसका वध ही है, मृत्यु के समान विषैला है । जो न तो दिव्य शक्तियों के पोषण-हेतु यज्ञ आदि करता है, और न मित्रों को पुष्ट करता है, ऐसा अकेला खाने वाला पाप ही खाता है ।

वाचिक शौच : पवित्र शुद्ध वाणी बोलने वाले यशस्वी होते हैं

ओं सम्यक् स्त्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः ।
एते अर्षन्त्यूर्मयो घृतस्य मृगा इव क्षिपणोरीषमाणाः ॥५२॥

—ऋ० ४।५८।६॥

जिन विद्वानों के अन्तर्विराजमान आत्मा और शुद्ध अन्तःकरण से पवित्र करती हुई विद्यायुक्त वाणियां नदियों के सदृश उत्तम प्रकार प्रवाहित होती हैं, वे विद्वान् जल की लहरियों से प्रेरणा लेकर हरिणों के सदृश तेज चलते हुए कीर्ति को शीघ्र प्राप्त होते हैं ।

वाचिक शुद्धि

ओम् एतो न्विन्द्रं स्तवाम शुद्धं शुद्धेन साम्ना ।
शुद्धैरुक्थैर्वावृध्वांसं शुद्ध आशीर्वान् ममत्तु ॥५३॥

—ऋ० ८।९५।७॥

आओ उपासको ! हम शुद्ध परमेश्वर की शुद्ध सामगान द्वारा स्तुति करें । शुद्ध स्तुतिवचनों द्वारा शुद्ध उपासक अपने वर्धनशील इष्टदेव को हर्ष दें ।

मानसिक शुद्धि

ओं पवमाना असृक्षत पवित्रमति धारया ।
मरुत्वन्तो मत्सरा इन्द्रिया हया मेधामभि प्रयांसि च ॥५४॥

—ऋ० ९।१०७।२५॥

हे पावक ! आपकी कृपा-दृष्टि से पवित्र अन्तःकरण ही आपका साक्षात्कार करता है। विद्वानों द्वारा साक्षात्कृत आपका पवित्र स्वभाव आनन्ददायक है, वह कर्मयोगियों के लिए हितकर व गतिशील है। आप बुद्धि तथा ऐश्वर्य देने वाले अपने स्वभावों से हमें पवित्र कीजिए।

क्रियात्मक शौच

ओं भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस् तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥५५॥

—यजु॰ २५।२१॥

हे देवजनो ! यज्ञशील हम लोग कानों से सदा कल्याणकारक एवं सुखदायी वचन ही सुनें। हम नेत्रों से कल्याणकारक और सुखकारक ही दर्शन करें। हम उपासक लोग दृढ़ अंगों से स्थिरता पूर्वक आपकी स्तुति तथा आज्ञा का अनुष्ठान सदा किया करें। और शरीर व आत्मा से सज्जनों के लिए हितकारी आयु को प्राप्त होकर सदा सुखी रहें।

शौच द्वारा प्राण और अपान की शान्ति

ओं पुनाता दक्षसाधनं यथा शर्धाय वीतये ।
यथा मित्राय वरुणाय शन्तमम् ॥५६॥

—साम॰ ११५९॥

हे साधको ! स्वयं को पवित्र करो जिससे सर्वविध बल एवं कान्ति के लिए दक्षता सिद्ध हो और जिससे मित्र=प्राण और वरुण=अपान के लिए उत्तम शान्ति हो। [अथवा, परमेश्वर की सर्वभूत-मैत्री, अपने पापों के निवारण, तथा सर्वोत्तम सुख शान्ति में स्थित होने के लिए स्वयं को निर्मल बनाओ।]

शुद्ध कामना की पूर्ति

ओं चित्पतिर्मा पुनातु वाक्पतिर्मा पुनातु देवो मा
सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः ।
तस्य ते पवित्रपते पवित्रपूतस्य यत्कामः पुने तच्छकेयम् ॥५७॥

—यजु॰ ४।४॥

ज्ञान-विज्ञान के स्वामी मुझे पवित्र करें। अर्थात् मेरा ज्ञान शुद्ध हो। वाणी को पवित्र करने वाले प्रभु मुझे पवित्र करें, अर्थात् मेरी वाणी पवित्र हो। सब के प्रेरक सविता देव मुझे पवित्र अविनाशी ज्ञान से और सूर्य की किरणों से पवित्र करें। अर्थात् आन्तरिक ज्ञान से और बाह्य प्राण-वायु से पवित्र बनूं। हे पवित्रता के स्वामी परमेश्वर ! तेरी उन-उन पवित्रताओं से परिपूत मेरी जो कामना हो, उसे मैं और परिशुद्ध करूं तथा उसे पूर्ण करने में समर्थ बनूं।

मुझे देवगण पवित्र करें

ओं पुनन्तु मां देवजनाः पुनन्तु वसवो धिया।
विश्वेदेवाः पुनीत मा जातवेदः पुनीहि मा ॥५८॥

—ऋ० ९।६७।२७

मुझ योगाभिलाषी को विद्वान् लोग उपदेश द्वारा पवित्र करें, ब्रह्मचारी-गण अपनी पवित्र बुद्धि द्वारा मुझे पवित्र करें। समस्त विद्वान् मुझे भली-भांति पवित्र करें। हे शुद्धि-स्वरूप सर्वत्र विद्यमान परमात्मन् ! मुझे पवित्र कीजिए।

शौच : पवित्रता की प्रार्थना

ओं पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया।
पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमानः पुनातु मा ॥५९॥

ओं पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे।
अथो अरिष्टतातये ॥६०॥

ओम् उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन च।
अस्मान् पुनीहि चक्षसे ॥६१॥

—अथर्व० ६।१९।१,२,३

मुझे पवित्र करें दिव्य गुणों से सम्पन्न सज्जन, तथा विचारशील मनस्वी मनुष्य। प्रकृतिस्थ सारे भूतगण मुझे पावन बनाएं और वह पावन परम चेतन सत्ता मुझे भी अपनी ही तरह पवित्र करे।

उत्तम कर्म (ज्ञान, उपासना-योग) के लिए, निपुण कौशलपूर्वक जीवनयापन (**योगः कर्मसु कौशलम्**) के लिए, तथा कल्याण के विस्तार के लिए प्रभु मुझे पवित्र करे।

हे दिव्य प्रेरक सविता देव ! दोनों प्रकार से पवित्र कर्म और फल से (योग-क्षेम से, आचरण-ऐश्वर्य, व्यवहार-भावना-रूप उभय विधि से) हमें पवित्र करो जिससे दर्शन सम्यक् हो, हम निर्मल द्रष्टा बनें ।

निष्पापता की याचना

ओम् अपेहि मनसस्पतेऽपक्राम परश्चर ।
परो निर्ऋत्या आचक्ष्व बहुधा जीवतो मनः ॥६२॥

—ऋ० १०।१६४।१॥

ओ मेरे मन के मालिक बन जाने वाले दुर्विचार ! दूर हट, कहीं दूर कदम बढ़ा, परे जाकर भटक ! परे हट कर (मेरी आगामी) विपत्तियों से कह दे कि मुझ जागरूक का मन अनेक उत्तम कार्यों में संलग्न है । (पाप-विचारों द्वारा अपनी मुसीबत बुलाने के लिए खाली नहीं है मेरा मन !)

मानस-पवित्रता का संकल्प

ओं परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि ।
परेहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि संचर गृहेषु गोषु मे मनः ॥६३॥

—अथर्व० ६।४५।१।३॥

अरे ओ मानसिक पाप दूर हो जा ! क्यों निन्दनीय कार्यों के लिए सलाहें दे और कह रहा है ? दूर हट, मैं तुझे बिल्कुल नहीं चाहता । जा पेड़ों पर या जंगलों में घूमता फिर । मेरा मन तो घर के कार्यों और गौ आदि दुधारु पशुओं की सेवा में लगा है ।

हमारे जाने-अनजाने दुष्कर्म दूर चले जाएं

ओं यदाशसा अवशसा निःशसा यत्
अभिशसा पराशसोपारिम जाग्रतो यत् स्वपन्तः।
अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे अस्मद् दधातु ॥६४॥

—ऋ०—०।१६४।३, अथर्व०६।४५।२॥

जो दुष्कर्म किसी आकांक्षा वश, अनिच्छापूर्वक या घृणावश, अथवा दबी हुई भावना-इच्छा से (प्रतिरोध न करने के कारण पर-वश जैसा होकर) तथा जागते

हुए या सोते हुए हम कर बैठे हैं, उन सभी अप्रिय कृत्यों को हे अग्निदेव ! तेजस्वी प्रभु ! हम से बहुत दूर हटा दीजिए ।

हम निष्पाप हों

ओं यद् विद्वांसो यदविद्वांस एनांसि चकृमा वयम् ।
यूयं नस्तस्मान्मुञ्चन्तु विश्वे देवाः सजोषसः ॥६५॥

—अथर्व० ६।११५।१

जिन पापों को हम ने जानते हुए या अनजाने में कर दिया है, उन से हमें हे सभी दिव्य शक्तियो ! अपने पूरे स्नेह और उत्साह से मुक्त कराओ ।

पापों से मुक्त होकर हम पवित्र हो जाएं

ओं यदि जाग्रद् यदि स्वपन्नेन एनस्योऽकरम् ।
भूतं मा तस्माद् भव्यं च द्रुपदादिव मुञ्चताम् ॥६६॥

ओं द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नात्वा मलादिव ।
पूतं पवित्रेणेवाज्यं विश्वे शुम्भन्तु मैनसः ॥६७॥

—अथर्व० ६।११५।२,३॥

यदि जागते हुए या चाहे सोते हुए मुझ पापी पापशील ने कोई पाप कर दिया है, उससे मुझे भूतकाल और भविष्यत् काल की शक्तियां ऐसे मुक्त कर दें, जैसे खूंटे से खोल दिया हो । इस प्रकार मानो (गहरे गड़े हुए) काष्ठ-द्रुम से छूटा हुआ या पसीने से भीगा हुआ जैसे नहाकर मलिनता से मुक्त होता है, अथवा जैसे छलनी से छानकर तपाया हुआ घृत छाछ से रहित पवित्र हो जाता है, वैसे मुझे सभी देवता, मेरी दिव्य शक्तियां पाप से शुद्ध करें ।

आत्मवशित्व : पाप पर नियन्त्रण

ओम् अव मा पाप्मन्त्सृज वशी सन् मृडयासि नः ।
आ मा भद्रस्य लोके पाप्मन् धेह्यविह्रुतम् ॥६८॥

ओं यो नः पाप्मन् न जहासि तमु त्वा जहिमो वयम् ।
पथामनु व्यावर्तनेऽन्यं पाप्मानु पद्यताम् ॥६९॥

—अथर्व० ६।२६।१,२॥

अरे पाप मुझे छोड़ जा, तू हमारे वश में होकर ही हमें सुख दे सकता है। और आनन्ददायी लोक में संयत होकर हे पाप! तू मुझे पीड़ा-रहित बनाकर भलीभांति स्थापित कर दे।

अरे पाप यदि तू हमें नहीं छोड़ता, तो हम ही तुझे छोड़ देते हैं। तुम्हारे घुमाव-भरे (भटकाने वाले) रास्तों पर तुम्हारे पीछे कोई और ही (पापों से प्रेम करने वाला) भटके, हम तो भटकने वाले हैं नहीं।

पाप-निवारण में सहायक देव

ओम् अग्निं ब्रूमो वनस्पतीनोषधीरुत वीरुधः।
इन्द्रं बृहस्पतिं सूर्यं ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥७०॥

—अथर्व० ११।६।१॥

ओं ब्रूमो राजानं वरुणं मित्रं विष्णुमथो भगम्।
अंशं विवस्वन्तं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥७१॥

—अथर्व० ११।६।२॥

हम अग्नि-शक्ति से, वनस्पतियों से, औषधियों से और लता-पादपों से एवं इन्द्र बृहस्पति तथा सूर्य, इन सब से प्रार्थना कर रहे हैं कि वे हमें पाप से मुक्त करायें।

राजा वरुण से, मित्र सूर्य से, विष्णु से और ऐश्वर्यशाली भग से कहते हैं, विवस्वान् के तेजस्वी अंश से भी हम प्रार्थना करते हैं कि वे हमें पाप से मुक्त करायें।

[स्पष्ट है कि प्राकृतिक जीवन-पद्धति और प्राकृतिक शक्तियों से सामीप्य हमें ईश्वरीय दिव्यता का अनुभव भी कराते हैं, और पापवृत्तियों से भी बचाते हैं।]

हम सन्मार्गगामी हों, शत्रु-रहित हों

ओं मा प्रगाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः।
मान्तःस्थुर्नो अरातयः ॥७२॥

—ऋ० १०।५७।१

हे देव-प्रेरक प्रभु ! या इन्द्रियों के अधिकारी हमारे मन ! हम कभी भी सन्मार्ग से परे न जाएं। हम ज्ञानयुक्त और सौम्य बन कर यज्ञ और उपासना जैसे उत्तम कर्म न त्यागें। हमारे बीच में अदानशील और हिंसा आदि बुरे कर्म करने वाले शत्रु न रहें।

ईश्वरीय प्राकृतिक नियमों को जानने वाले विद्वान्-योगियों का अंग-प्रत्यंग और चरित्र निर्मल होता है

ओं वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि चक्षुस्ते शुन्धामि ।
श्रोत्रं ते शुन्धामि नाभिं ते शुन्धामि मेढ्रं ते शुन्धामि ।
पायुं ते शुन्धामि चरित्रांस्ते शुन्धामि ॥७३॥

—यजु० ६।१४॥

यम-नियम पालन करने वाले को यह ईश्वरीय आश्वासन है—तुम्हारी वाणी, प्राण, नेत्र, श्रोत्र, नाभि, मूत्र एवं मल-विसर्जक इन्द्रियों को पवित्र-शुद्ध करता हूं । तुम्हारे समस्त चारित्रिक गुण-शील को पवित्र कर धर्म के अनुकूल बनाता हूं । [प्रकृति-प्रदत्त हमारा शरीर स्वस्थ रहने के लिए ही बना है । अप्राकृतिक व्यवहार ही इसे अशुद्ध और फिर अस्वस्थ बनाता है ।]

मानसिक सन्तोष

ओम् अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे विचष्टे सवितायमर्यः॥७४॥

—ऋ० १०।३४।१३॥

हे जुआरी ! इन पाशों से जुआ मत खेल, खेती कर और इस से प्राप्त धन के उपभोग में ही आनन्द ले तथा बहुत मानता हुआ प्रसन्न रह । उसी से गौएँ सुरक्षित तथा पत्नी प्रसन्न व अनुकूल रहेंगी । यह परामर्श सब के प्रेरक हमारे इस प्रभु ने स्वयं दिया है ।

वाचिक सन्तोष

ओम् अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥७५॥

—अथर्व० ३।३०।२॥

साधक के परिवार में पुत्र पिता के उत्तम निश्चय का अनुकरण करे, और माता के समान मन वाला हो । पत्नी पति से एवं पति पत्नी से शान्ति देने वाली मीठी वाणी बोलें ।

मानसिक तप

ओम् अग्ने चरुर्यज्ञियस् त्वाध्यरुक्षच्छुचिस् तपिष्ठस्तपसा तपैनम् ।
आर्षेया दैवा अभि संगत्य भागमिमं तपिष्ठा ऋतुभिस्तपन्तु ॥७६॥

—अथर्व० ११।१।१६॥

हे विद्वान् योगी ! तुझे विवेक-ज्ञान ने ऊंचा चढ़ाया है । शुद्धाचरण तथा अतिशय तपस्या से इस ज्ञान को सर्वत्र फैला । ऋषिभक्त साधक-जन मिलकर इस योग-ज्ञान को ऋतुओं के साथ तपस्या करते हुए उपकार में लगाएं ।

वाचिक तप

ओं यो वाचा विवाचो मृध्रवाचः पुरू सहस्त्रशिवा जघान ।
तत्तदिदस्य पौंस्यं गृणीमसि पितेव यस्तविषीं वावृधे शवः ॥७७॥

—ऋ० १०।२३।५॥

जो तपस्वी अपनी ओजस्वी वाणियों के द्वारा विरुद्ध वाणियों, अनेक झगड़ालू वचनों तथा सहस्त्रों अकल्याणी वाणियों को नष्ट कर देता है, साथ ही जो पिता के समान ज़गत् की शक्तियों को बढ़ाता है, उस तपस्वी की वाक् शक्ति की हम सभी प्रशंसा करते हैं ।

शारीरिक तप

ओम् अग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपा या तव तनूरियꣳ सा मयि यो मम तनूरेषा सा त्वयि सह नौ व्रतपते व्रतान्यनु मे दीक्षां दीक्षापतिर्मन्यतामनु तपस्तपस्पतिः ॥७८॥

—यजु० ५।६॥

व्रतों एवं नियमों के पालक हे अग्नि-तत्त्व ! मुझ में तुम्हारा ही व्रत-पालक यह व्यापक स्वरूप स्थित है । इसी प्रकार जो मेरे शरीर का आग्नेय तत्त्व है, वह तुझ में अवस्थित है । इन व्रतों के स्वामी हे परमात्मा ! हम दोनों के व्रत समान हैं । दीक्षाओं के व्रत-उपदेशों के रक्षक ! मुझे दीक्षा पालन में आपका अनुसरण करने वाली मति दीजिए । इन्द्रियजय आदि धर्मानुष्ठान-रूप तपश्चर्या का पालन कराने वाले आप ही तप करने की शक्ति दीजिए ।

शारीरिक तप की परिपक्वता

ओं पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः ।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत ॥७९॥

—ऋ० ९।८३।१॥

हे परमात्मन् ! आपका स्वरूप पवित्र है और आपका संरक्षण सभी के लिए है । आप सब के स्वामी हैं और सब पदार्थों या अवयवों में सब तरह से व्यापक है । जिसने शरीरादि से तप नहीं किया वह कच्चा साधक आप के आनन्द को नहीं भोग सकता; किन्तु परिपक्व तप वाले ही तुम्हें प्राप्त होकर तुम्हारा आनन्द भोगते हैं ।

तप द्वारा पवित्र हुए उपासक ही योगस्थ होते हैं

ओं तपोष्पवित्रं विततं दिवस्पदे शोचन्तो अस्य तन्तवो व्यस्थिरन् ।
अवन्त्यस्य पवितारमाशवो दिवस्पृष्ठमधि तिष्ठन्ति चेतसा ॥८०॥

—ऋ० ९।८३।२॥

हे परमात्मन् ! द्युलोक में आपका तप फैला हुआ है उस तप की दीप्ति वाली किरणें भी स्थिर हैं । उक्त तप की तेजस्विता पवित्र उपासक की रक्षा करती हैं, जिस से उपासकगण अपनी चित्त की शक्ति से प्रकाशमान द्युलोक की प्रतीक मूर्धज्योति में अधिष्ठित हो जाते हैं ।

वेद का स्वाध्याय करो

ओं प्र पूतास्तिग्मशोचिषे वाचो गोतमाग्नये ।
भरस्व सुम्नयुर्गिरः ॥८१॥

—ऋ० १।७९।१०॥

हे स्तुति और सुख की इच्छा करने वाले जीव ! तू तीक्ष्ण बुद्धि को प्रकाशित करने वाली पवित्र विज्ञानमयी विद्या की शिक्षा और वेदवाणी को सब प्रकार से धारण कर एवम् उपयोग में ला ।

वैदिक वाणी : स्वाध्याय

ओं बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः ।
यदेषां श्रेष्ठं यदरि प्रमासीत्प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः ॥८२॥

—ऋ० १०।७१।१॥

हे वाणी के स्वामी ! वाणी का श्रेष्ठ रूप सृष्टि के प्रारम्भ में प्रादुर्भूत हुआ। पदार्थों के नाम और ज्ञान को धारण करते हुए परमर्षि उस वेद वाणी से प्रेरित हुए। इन वाणियों की श्रेष्ठ प्रेरणा पाप-रहित धर्म-रूप में स्थित होकर ऋषियों के हृदय में प्रकट होती है।

ओम् अपक्रामन् पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वचः।
प्रणीतीरभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह ॥८३॥

—अथर्व० ७।१०५।१॥

हे साधक योगी ! तु पौरुषेय वाणी से हटकर दिव्यवाणी का ही वरण करता हुआ, सभी सखाओं के साथ प्रेमपूर्ण उत्तम व्यवहारों का बर्ताव कर।

स्वाध्याय का फल

ओं तां जुषस्व गिरं मम वाजयन्तीमवा धियम्।
वधूयुरिव योषणाम् ॥८४॥

—ऋ० ३।६२।८॥

हे देव विद्वान् ! आप मेरी सत्य-असत्य का विवेक करने वाली वाणी को सुनिये, तथा मेरी बुद्धि की रक्षा उसी प्रकार कीजिए जैसे वर, वधू की करता है।

बुद्धिप्रेरित स्वाध्याय का फल : ईश्वर को नमस्कार

ओं देवं नरः सवितारं विप्रा यज्ञैः सुवृक्तिभिः।
नमस्यन्ति धियेषिताः ॥८५॥

—ऋ० ३।६२।१२॥

योग द्वारा इन्द्रियों और अन्तःकरण को चलाने वाले मेधावी साधक, दोषों का निवारण करने वाले शास्त्रों के स्वाध्याय, सत्संग एवं योगाभ्यास द्वारा सद्-बुद्धि से प्रेरित होकर सुखों के दाता एवं सकल जगत् के उत्पादक परमात्मा को नमस्कार करते हैं।

द्रव्य-यज्ञास्तपोयज्ञा, योगयज्ञास्तथाऽपरे।
स्वाध्याय-ज्ञानयज्ञाश्च, यतयः संशितव्रताः ॥

—गीता ४।२८॥



अन्नमय कोश : आसन

मानव-शरीर स्वयं में समर्थ और निर्मल हो

**ओ३म् सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् ।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्त्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये ॥१॥**

—ऋ० १०।६३।१०

पञ्चकोश-युक्त मानव-शरीर-रूपी यह नौका भलीभांति हमारी रक्षा करती है। पृथिवी की भांति सतत विकासशील है, और द्यौलोक की भांति प्रकाशित है। यह निष्पाप और निष्कम्प है। हमें खूब सुख देती है। यह स्वयं खण्डित न होने वाली, स्वयं में परिपूर्ण है, और अच्छे कर्मों में प्रवृत्त होती है। शत्रुओं से खूब बचाती है, अपराधों से रहित है और चूने वाली नहीं है। ऐसी इस दिव्य नौका पर हम अपने समग्र मंगल के लिए सवार हुए हैं।

स्थूल-शरीरस्थ अन्नमय कोश में दिव्य शक्तियां

**ओं संसिचो नाम ते देवा ये संभारान्त्समभरन् ।
सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥२॥**

—अथर्व० ११।८।१३॥

दिव्य-शक्ति-सम्पन्न पृथिवी आदि जिन पञ्चभूतों ने शरीर-रचना में समर्थ सामग्री का संचय किया है, वे संसिच नामक देवता हैं। ये देवगण मरणधर्मा शरीर को सब प्रकार सींचकर पुरुष-शरीर में प्रवेश कर गये। [जब ऐसी दिव्य-शक्तियां इस स्थूल-सूक्ष्म शरीर में विद्यमान हैं, तब वह शुद्ध और स्वस्थ रहने की स्वाभाविक शक्ति से सम्पन्न क्यों न हो ? (देखें पीछे पृ० ६५ मन्त्र, ७३.)]

इस देह में प्रकृति माता ने रंग भरा है

ओं सर्वे देवा उपाशिक्षन् तदजानाद् वधूः सती ।
ईशा वशस्य या जाया सास्मिन् वर्णमाभरत् ।।३।।

—अथर्व० ११।८।१७।।

पुरुष शरीर में स्थित ये सब दिव्य शक्तियां उपकारी और सहायक हो गयीं। इस व्यवस्था को चलाने वाली, सत्य-नियमों वाली, रचना में समर्थ ईशा नामक मूल प्रकृति जो सब को वश में रखने वाले परमेश्वर की पत्नी रूपा है, वह इस सृष्टि-क्रम को जानती है । उस ईशा ने इस पुरुष-शरीर में सब ओर से रंग भरे हैं ।

शरीर में आठ प्रकार के जलीय तत्त्व

ओम् आस्तेयीश्च वास्तेयीश्च त्वरणाः कृपणाश्च याः ।
गुह्याः शुक्राः स्थूला अपस्ता बीभत्सावसादयन् ।।४।।

—अथर्व० ११।८।२८

पुरुष-शरीर में आठ प्रकार के आपः (जल के रूप) प्रवाहित होते हैं- १-रुधिर रूप में , २-वस्ति मूत्र रूप में, ३-पसीने के रूप में शीघ्र निकलने वाले, ४-असमर्थ अवस्था में अश्रु रूप टपकने वाले, ५-जीव-कोशों में सूक्ष्म व गुप्त रूप से रहने वाले 'प्लाज़्मा' आदि, ६-रज-वीर्य में रहने वाले, ७-मांस एवं मज्जा में स्थूल रूप धारण किये हुए, ८-खाये-पिये का परिपाक-रूप रस। इन आठों रसों को देवों ने मानव-शरीर में परस्पर सम्बद्ध किया है ।

मानव-शरीर की अग्निहोत्र से समता

ओम् अस्थि कृत्वा समिधं तदष्टापो असादयन् ।
रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन् ।।५।।

—अथर्व० ११।८।२९।।

(पृथिवी आदि दिव्य पञ्चभूत परस्पर एक दूसरे की शक्ति को बढ़ाने वाले संसिच हैं ।) उन्होंने पुरुष के शरीर में अस्थियों को समिधा-रूप बनाकर, सम्पूर्ण शरीर में आठ प्रकार के जलों को प्रवाहित कर जल-सेचन किया । फिर वीर्य को घृतरूप बना कर वे यज्ञीय शरीर में प्रविष्ट हो गये ।

यज्ञमय शरीर से निष्पाप बनो, उत्तम वाणी बोलो

ओम् इयं ते यज्ञिया तनूरपो मुञ्चामि न प्रजाम् ।
अंहोमुचः स्वाहाकृताः पृथिवीमाविशत पृथिव्या सम्भव ॥६॥

—यजु०४।१३॥

हे विद्वान् साधक ! तेरा यह शरीर सृष्टि-यज्ञ द्वारा निर्मित तथा यज्ञ के योग्य है । मैं इसमें प्रजनन-शक्ति के समान ही क्रियात्मक शक्ति स्थापित कर रहा हूं । ये ८ शक्तियां तुम्हें पाप से छुड़ाएं और उत्तम वाणियां प्रदान करें । तुम पृथिवी पर आए हो तो इसके ज्ञान में प्रवेश करो, और इस (पृथिवी) के समान वैभव-युक्त बनो ।

यह देह ईश्वर के निरीक्षण में है

ओं तस्येमे नव कोशा विष्टम्भा नवधा हिताः ॥७॥

ओं स प्रजाभ्यो वि पश्यति यच्च प्राणति यच्च न ॥८॥

—अथर्व० १३।४।१०,११॥

उस परमेश्वर द्वारा स्थापित शरीर के ये नौ [दो कान, दो आंख, दो नथुने, एक मुख, एक गुदा और एक उपस्थ] आधार-विशेष, स्तम्भ, आलम्ब या सहारे अपनी शक्तियों सहित नौ प्रकार से हैं ॥१०॥

[यहां नौ की संख्या विचारणीय है । और द्वारों को कोश क्यों कहा?]

वह [परमेश्वर] उत्पन्न जीवों के हित के लिए [उन सब को] विविध प्रकार से देखता है, जो श्वास लेता है, और जो नहीं श्वास लेता उसे भी ॥११॥

[अर्थात्—प्राणियों का प्राण-स्पन्दन भी ईश्वर के निरीक्षण में है, वस्तुतः नियन्त्रण में है ।]

कल्याण के लिए हमें उत्तम शरीर मिले

ओम् इन्द्र त्रिधातु शरणं त्रिवरूथं स्वस्तये ।
छर्दिर्यच्छ मघवद्भ्यश्च मह्यं च यावया दिद्युमेभ्यः ॥९॥

—साम० २६६॥

हे दिव्य गुणों के स्वामी परमेश्वर ! आप हमें ऐसा शरीर प्रदान कीजिए,

जिसमें वात, पित्त एवं कफ इन तीनों धातुओं का सन्तुलन हो, जो हमारी चेतना की उत्तम शरण बने ; और जो स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीन शरीरों के रूप में कल्याणकारी सिद्ध हो । इन शरीरों के माध्यम से आप मुझे एवं सभी याज्ञिकों को दिव्यता से संयुक्त कीजिए ।

शरीर नश्वर फिर भी रक्षणीय

ओम् अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता ।
गोभाजऽइत् किलासथ यत् सनवथ पूरुषम् ॥१०॥

—यजु० १२।७९॥

हे मनुष्यो ! ओषधि-वनस्पतियों के समान तुम जीवों का यहां निवास है। कल रहे वा न रहे ऐसे चलायमान नश्वर पत्र पर तुम बैठे हो । इसलिए पृथिवी का सेवन करते हुए औषधि व अन्नादि से इस शरीर की सेवा करो, और सुखी रहो । [स्पष्ट है कि वेदों में नश्वरता के आधार पर वैराग्य का भाव संसार से पलायन करने का लेशमात्र भी नहीं है !]

अन्नमय कोश को सशक्त रखने के लिए शारीरिक सुख : मेरा निवास स्थायी हो

ओं मोषु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्नहं गमम् ।
मृळा सुक्षत्र मृळय ॥११॥

—ऋ० ७।८९।१॥

हे सर्वशक्तिमान् परमात्मन् ! मृत्तिका के अस्थायी, भंगुर घर आप हम को मत दो । हम मिट्टी की गुहाओं में निवास न करें । हे जगदीश्वर ! आप हमें सुख दो, आप हम पर सदैव दया करो ।

भंगुर शरीर द्वारा धर्माचरण

ओं तव शरीरं पतयिष्ण्वर्वन्तव चित्तं वात इव ध्रजीमान् ।
तव शृङ्गाणि विष्ठिता पुरुत्रारण्येषु जर्भुराणा चरन्ति ॥१२॥

—यजु० २९।२२॥

हे वेगवान् वीर ! तेरा यह शरीर पतनशील है, और तेरा चित्त वायु के

समान वेगवान् है । अत्यन्त पोषक एवं धारक-विशेष-रूप में स्थित तेरे ये अङ्ग विषय-रूपी अरण्यों में विचरण करते रहते हैं । अतः तू धर्म का आचरण कर।

सात्त्विक अन्न से अन्तःशान्ति

ओम् इषा मन्द स्वादु तेऽरं वराय मन्यवे ।
भुवत्त इन्द्र शं हृदे ॥१३॥

—ऋ० ८।८२।३॥

प्रभु रचित सौम्य अन्नादि पदार्थों का उपभोग करके हम लोग तृप्त हों। यह तेरे क्रोध आदि आन्तरिक शत्रुओं के निवारण में समर्थ हो । हे साधक ! वह सुखवर्षक अन्न तेरे हृदय के लिए सुखकारी हो ।

उत्तम अन्न से उत्तमता आती है

ओं धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम् ।
इन्द्र प्रातजुर्षस्व नः ॥१४॥

—यजु० २०।२९॥

हे सुख के इच्छुक योग-विद्या के ऐश्वर्य से युक्त साधक ! तू हमारे सुगन्धित धान्यों से युक्त, श्रेष्ठ क्रिया से निष्पन्न, पूए आदि प्रातःकाल सेवन कर, जिससे (**उक्थिनम्-**) वैदिक सूक्त आदि के सूक्ष्म भावों का बोध हो सके । [ध्यान दें, प्रातःकालीन आहार की उत्तमता-पौष्टिकता अत्यावश्यक है ।]

साधक सात्त्विक अन्न का सेवन करे

ओं यो विश्वान्यभि व्रता सोमस्य मदे अन्धसः ।
इन्द्रो देवेषु चेतति ॥१५॥

—ऋ० ८।३२।२८॥

"जो अपने समस्त व्रतों के पालन के साथ सौम्य अन्न में आनन्द लेता है, उस का मन इन्द्रिय-शक्तियों को चेतन रखता है । अर्थात् सात्त्विक अन्न के सेवन से इन्द्रियां शुद्ध, सात्त्विक होती हैं ।" [कहा भी है—जैसा खाये अन्न, वैसा बने मन ।]

आसन : बैठने का साधन

**ओं विश्वे देवास आगत शृणुता म इमं हवम् ।
इदं बर्हिर्निषीदत ॥१६॥**

—ऋ० २।४१।१३॥

हे सभी दिव्य विद्वानो आओ, मेरी पुकार को सुनो, मेरे इस ग्रहण करने योग्य शब्दार्थ-सम्बन्ध को अच्छी प्रकार सुनो। इसके लिए इस उत्तम कुशासन पर बैठो।

आसन : एक निश्चित स्थान पर

**ओम् आ यन्मा वेना अरुहन्नृतस्यँ एकमासीनं हर्यतस्य पृष्ठे ।
मनश्चिन्मे हृद आ प्रत्यवोचेदचिक्रदञ्छिशुमन्तः सखायः ॥१७॥**

—ऋ० ८।१००।५॥

ध्यान के लिए आसन पर बैठे हुए मेरे मन पर सत्य साक्षात्कार की कामनाएं आरोहण करने लगी हैं। मेरा हृदय उन कामनाओं से ऐसे संवाद करता है जैसे बालकों को उनके अन्तरंग मित्र बुलाते हैं।



**समे शुचौ शर्करा-वह्नि-बालुका-
विवर्जिते शब्द-जलाश्रयादिभिः ।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने
गुहा-निवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥**

—श्वेताश्वतर० २।१०॥



प्राणमय कोश : प्राणायाम

प्राणमय कोश बनाने वाला कौन है ?

ओ३म् को अस्मिन् प्राणमवयत् को अपानं व्यानमु ।
समानमस्मिन् को देवोऽधि शिश्राय पूरुषे ॥१॥

—अथर्व॰१०।२।१३

"इस पुरुष में किसने प्राण, अपान और व्यान के तन्तुओं को ताना है ? किस देव ने इस में समान-प्राण को आश्रय दिया है ?" इस प्रश्न का उत्तर इसी 'कः' शब्द में निहित है, जिसके द्वारा सुखस्वरूप, कर्त्ता विधाता, ब्रह्म, पुरुष, परमेश्वर का संकेत हुआ है ।

समष्टि प्राण

ओं प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे ।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥२॥

—अथर्व॰११।४।१

यह समस्त जगत् जिसके वश में, रहता है, उस जीवनदायी प्राणस्वरूप (परमेश्वर) को नमस्कार है । हम उसका आदरपूर्वक अनुभव करें । वह सब का ईश्वर सदैव विद्यमान रहता है और यह सब कुछ उसी में अचल रूप से स्थित है । [केनोपनिषद् का यह वचन यहां स्मरणीय है :–

यत् प्राणेन न प्राणिति, येन प्राणः प्रणीयते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥]

समष्टि-प्राण की व्यापकता

ओं नमस्ते प्राण क्रन्दाय नमस्ते स्तनयित्नवे ।
नमस्ते प्राण विद्युते नमस्ते प्राण वर्षते ॥३॥

–अथर्व० ११।४।२॥

आकाश में क्रियाशील प्राण-शक्ति जो शब्द करते हुए वाष्प-रूप में प्रकट होती है, तथा जो प्राणियों की अन्तर्वेदना को विविध ध्वनियों द्वारा व्यक्त करती है, उसे नमस्कार है । मेघों की गर्जना में निहित प्राण-शक्ति को नमस्कार है । विद्युत्-रूप में चमकते हुए प्राण-तत्त्व को नमस्कार । वर्षा करने में सहायक प्राण को नमस्कार ।

अपने प्राणों को नमस्कार

ओम् अभिवृष्टा ओषधयः प्राणेन समवादिरन् ।
आयुर्वै नः प्रातीतरः सर्वा नः सुरभीरकः ॥४॥

ओं नमस्ते अस्त्वायते नमो अस्तु परायते ।
नमस्ते प्राण तिष्ठत आसीनायोत ते नमः ॥५॥

–अथर्व० ११।४।६,७॥

औषधियों पर जब प्राण की वर्षा हुई तो वे प्राण से बोलीं– "तुमने निश्चय ही हमारी आयु को बढ़ाया है और हम सभी को तुम्हीं ने सुगन्धित व सुरभित किया है"।।६।।

भीतर आते हुए श्वास (पूरक) या दूर जाते हुए प्रश्वास (रेचक) हे प्राण! तुम्हें नमस्कार हो । जब तुम ठहर जाते हो, (बाह्य व आभ्यन्तर कुम्भक) तब भी, और जब बैठ जाते हो (स्तम्भ-वृत्ति, केवल-कुम्भक) तब भी तुम्हें प्रणाम ।।७।। [प्राणायाम में श्वास-प्रश्वास से दीर्घ-सूक्ष्म, गति-विच्छेद तक की स्थितियों में प्राण-परिदर्शन करना, प्राण पर ही ध्यान रखना, हमारा नमस्कार यही है ।]

प्राणों की समग्रता

ओं नमस्ते प्राण प्राणते नमो अस्त्वपानते ।
पराचीनाय ते नमः प्रतीचीनाय ते नमः सर्वस्मै त इदं नमः ॥६॥

–अथर्व० ११।४।८॥

सब को गति देते हुए प्राण को नमस्कार (सादर अनुभव)। सब की जीवन-शक्ति के बाधक-तत्त्वों को हटाने वाले अपान को नमस्कार। अभिव्यक्त प्राणों, (दस स्थूल प्राणों : प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय) को नमस्कार। अव्यक्त सूक्ष्म प्राणों को, मूल प्राण-शक्ति को नमस्कार। हम इन सभी का समग्रता से आदर सहित अनुभव करें।

प्राण की मूलशक्ति

ओं या ते प्राण प्रिया तनूर्यो ते प्राण प्रेयसी।
अथो यद् भेषजं तव तस्य नो धेहि जीवसे ॥७॥

—अथर्व० ११।४।९॥

हे प्राण ! तेरा यह तनू=समग्र स्वरूप हमें प्रिय है। उस में से प्रधानभूत प्राण एवम् अपान-क्रियाओं को करने वाला स्वरूप हमें अतिशय प्रिय है। इसके अतिरिक्त, तुम्हारे इस समग्र-स्वरूप का जो औषधि जैसा स्वास्थ्य-प्रद मूल रूप है, और जो विनाश से बचाकर जीवन-शक्ति का आधान करता है, वह हम में स्थापित कीजिए।

प्राण सब का स्वामी

ओं प्राणः प्रजा अनु वस्ते पिता पुत्रमिव प्रियम्।
प्राणो ह सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणति यच्च न ॥८॥

—अथर्व० ११।४।१०॥

जैसे पिता अपने प्रिय पुत्र को सब प्रकार से भली भांति आच्छादित करता है, संकटों से सुरक्षित रखता है, वैसे ही प्राण भी करता है। इसलिए निश्चय ही प्राण सब पदार्थों का चाहे वह गतिशील हों या गतिरहित हों, अर्थात् चराचर का ईश्वर है। (जड़ पदार्थों के अस्तित्व में टूटन और क्षरण को रोकते हुए प्राण-शक्ति उनकी सत्ता में सहायक होती है।)

प्राण द्वारा दण्ड व पुरस्कार

ओं प्राणो मृत्युः प्राणस्तक्मा प्राणं देवा उपासते।
प्राणो ह सत्यवादिनमुत्तमे लोक आ दधत् ॥९॥

—अथर्व० ११।४।११॥

पापाचारी के लिए प्राण ही मृत्यु-रूप है, दुष्ट (विकृत) आचरण वाले के लिए प्राण ही पीड़ादायी है। इसके विपरीत जो सत्यनिष्ठ है, योगस्थ है, उसे प्राण ही उत्तम स्थिति में स्थापित करते हैं। प्राण की इस महिमा के कारण दिव्य भाव में स्थित योगी जन प्राण की उपासना किया करते हैं।

प्राण और अपान

ओं प्राणापानौ व्रीहियवावनड्वान् प्राण उच्यते ।
यवे ह प्राण आहितोऽपानो व्रीहिरुच्यते ॥१०॥

—अथर्व० ११।४।१३॥

प्राण और अपान ऐसे हैं जैसे चावल और जौ। अनड्वान्=बैल अन्नोत्पादक को भी प्राण कहते हैं। जौ में प्राण-निहित है ही, और चावल को भी अपान कहते हैं। (अर्थात् शक्तिशाली अन्न, प्राण-शक्ति-सम्पन्न होता है।)

प्राण में सब स्थित है

ओं प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते ।
प्राणे ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥११॥

—अथर्व० ११।४।१५॥

प्राण को मातरिश्वा कहते हैं, यह पूरे अन्तरिक्ष में श्वसन क्रिया का संचालक है। वायु को भी प्राण ही कहते हैं। प्राण में ही भूतकाल है, भविष्यत् काल है, और सभी कुछ प्राण में प्रतिष्ठित है। (प्राण-तत्त्व वस्तुतः पूरे ब्रह्माण्ड में सदा से नियामक है, और सदा रहेगा।)

प्राण का महत्त्व, प्राण से उपलब्धि

ओं यस्ते प्राणेदं वेद यस्मिंश्चासि प्रतिष्ठितः ।
सर्वे तस्मै बलिं हरान् अमुष्मिंल्लोक उत्तमे ॥१२॥

--अथर्व० ११।४।१८॥

हे प्राण ! जो तुम्हारे इस महत्त्व को जानता है, और साधना के फलस्वरूप जिस साधक में तुम्हारी समस्त शक्तियां जागृत होकर प्रतिष्ठित हो चुकी हैं; उसे उस उत्तम अवस्था में सभी दिव्य विभूतियां (यौगिक शक्तियां) सुख-शान्ति का उपहार प्रदान करती हैं।

प्राणों की गति, आयाम व सामर्थ्य अधिक हो

ओं वातरंहा भव वाजिन् युज्यमान इन्द्रस्य याहि प्रसवे मनोजवाः।
युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आ ते त्वष्टा पत्सु जवं दधातु ॥१३॥

—अथर्व० ६।९२।१ यजु० ६।८॥

हे वाज=बल एवं ज्ञान से युक्त प्राण ! इस देह में नियुक्त होकर तुम सर्वत्र गतिशील वायु के समान वेग वाले बनो । मानसिक वेग से वेगवान् बन कर इन्द्रियों के स्वामी इस मन और आत्मा के प्रकृष्ट विकास व उत्तम ज्ञान और कर्म सम्पन्न कराने के लिए चलते रहो । समस्त ज्ञानों को प्राप्त कराने वाले मरुद्गण= प्राणसिद्ध ज्ञानी-जन तुम्हें योगाभ्यास में प्रवृत्त करें । परमेश्वर का निर्माण-सामर्थ्य तुम्हारे चरणों – रेचक, शून्यक, पूरक एवं कुम्भक – में वेग दे, तुम्हारी गति में तीव्रता, गहनता व साधनों में शक्ति दें ।

प्राणायाम द्वारा मृत्यु को परास्त करें

ओम् अमुत्र भूयादधि यद् यमस्य बृहस्पतेरभिशस्तेरमुञ्चः ।
प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्मद् देवानामग्ने भिषजाः शचीभिः ॥१४॥

—यजु० २७।६, अथर्व० ७।५३।१॥

परलोक में विद्यमान साधारण जन के जीवन को नियन्त्रित करने वाले यम के अधिकार से तथा बृहस्पति=विशाल ब्रह्माण्ड के स्वामी के अभिशाप या अपराध से उसी योगाभ्यास ने छुड़ाया है । हे अग्रणी अग्नि शक्ति- (Energy) रूप प्रभो ! प्राण-अपान रूप अश्वों को नियन्त्रित करने वाले प्राणायाम हम से मृत्यु को परे हटाएं । ये प्राणयाम ही अपनी ऊर्जाओं द्वारा दिव्य-शक्तियों के संवर्धक सब इन्द्रियों के वैद्य हैं ।

प्राण और अपान शरीर में जुड़े रहें

ओं सं क्रामतं मा जहीतं शरीरं प्राणापानौ ते सयुजाविह स्ताम् ।
शतं जीव शरदो वर्धमानोऽग्निष्टे गोपा अधिपा वसिष्ठः॥१५॥

—अथर्व० ७।५३।२॥

हे प्राण और अपान ! तुम दोनों समान रूप से मिलकर चलो, विरोधी मत बनो, इस शरीर को मत छोड़ो । तुम्हारे ये दोनों प्राण-(अश्विनौ) मिल-जुल

कर सन्तुलित होकर रहें । तुम सौ वर्ष तक बढ़ते हुए समृद्ध होते हुए जियो । इनके द्वारा आहित सर्व-व्यापक अग्रणी अग्नि तुम्हारी संरक्षक, भलीभांति पालन करने वाली है, तथा शरीर में बसने वाला श्रेष्ठ धन है ।

प्राणायाम द्वारा जीवनी शक्ति का संवर्धन

ओम आयुर्यत् ते अतिहितं पराचैरपानः प्राणः पुनरा ताविताम् ।
अग्निष्ट दाहार्निर्ऋतेरुपस्थात् तदात्मनि पुनरा वेशयामि ते ॥१६॥

—अथर्व॰ ७।५३,५५।३॥

यदि तुम्हारी आयु – जीवनी शक्ति जीवन-विरोधी व्यवहारों द्वारा घट गयी है, तो वे दोनों प्राण और अपान=श्वास-प्रश्वास फिर से गतिशील हो जाएं और शरीर में अग्नि शक्ति को बढ़ाएं । महान् विपत्ति की गोद से उस आयु को अग्नि-शक्ति वापस छीन लाती है । तुम्हारे अपने शरीर में उसे मैं पुनः प्रविष्ट कराता हूं ।

प्राणायाम रूपी अश्व को शरीररथ में जोड़ो

ओं युञ्जाथां रासभं रथे वीड्वङ्गे वृषण्वसू ।
मध्वः सोमस्य पीतये ॥१७॥

—ऋ॰ ८।८५।७। यजु॰ ११।१।३॥

हे योगसाधक ! प्राणायाम-रूपी अश्व को शरीर-रूपी रथ में जोड़ो । इस प्रकार अपनी देह को बलिष्ठ एवं दृढांग बनाकर जीवन में अलौकिक माधुर्य का संचार करके एवं वीर्य शक्ति को शरीर में खपाकर साध्य को सिद्ध करने का अभ्यास करो ।

ओम् असर्जि रथ्यो यथा पवित्रे चम्वोः सुतः ।
कार्ष्मन् वाजी न्यक्रमीत् ॥१८॥

—ऋ० ९।३६।१। साम० ४९०॥

सिर से पैर तक योगी के पवित्र मन में प्रकट हुआ योग-साधना-जन्य प्राण-बल या भक्ति-रस, कर्म-बीजों की भूमि-रूप बुद्धि और आत्मा में रथवाहक अश्व की भांति अपूर्व गति का संचार करता है, जैसे सेनापति शत्रुसेनाओं को परास्त करता है । वैसे ही साधक विघ्नों का नाश कर देता है ।

प्राण–परिदर्शन और प्राणायाम न करने से हानि

ओं स य एवं विदुष उपद्रष्टा भवति प्राणं रुणद्धि ॥१९॥
ओं न च प्राणं रुणद्धि सर्वज्यानिं जीयते ॥२०॥
ओं न च सर्वज्यानिं जीयते पुरैनं जरसः प्राणो जहाति ॥२१॥

—अथर्व॰ ११।३।५४,५५,५६॥

जो जिज्ञासु साधक उस सर्वज्ञ विद्वान् परमेश्वर को अथवा विद्यमान प्राण को समीप से जानता है, देखता है, वह अपने प्राण को रोक लेता है, (कहना चाहिए उसका प्राण स्वतः रुक जाता है, गतिविच्छेद हो जाता है।) ॥१९॥

और यदि वह प्राण रोककर प्राणायाम न करे तो सभी प्रकार की हानियों से क्षरणों के द्वारा क्षीण हो जाता है ॥२०॥

(प्राणायाम के अभाव में) क्रमशः सब प्रकार से क्षीण होता हुआ, वृद्ध होने से पहले ही, समय से पूर्व ही इस का प्राण, ऐसे प्राणाभ्यास-रहित साधक को छोड़ जाता है ॥२१॥

बुद्धिवर्धक प्राणायाम में संगीत हो

ओं बृहदिन्द्राय गायत महतो वृत्रहन्तमम् ।
येन ज्योतिरजनयन्नृतावृधो देव देवाय जागृवि ॥२२॥

—साम॰ २५८॥

हे मितभाषी एवं प्राणायाम के अभ्यासी उपासको ! परमेश्वर के प्रति तुम बहुत सामगान किया करो, जो कि पापों और अज्ञानों का अतिशय रूप में हनन करता है। इसी सामगान के द्वारा सत्य-नियमों के अनुष्ठानों से बढ़ने वाले उपासक अपने हृदयों में सदा जागरूक ज्योति को प्रकट करते हैं।

प्राणायाम के साथ ओंकार–जप

ओं त्वामग्ने अंगिरसो गुहा हितमन्वविन्दञ्छिश्रियाणं वने वने ।
स जायसे मथ्यमानः सहो महत्त्वामाहुः सहसस्पुत्रमङ्गिरः ॥२३॥

—साम॰ ९१२॥

हे प्रकाश स्वरूप जगन्नेता ! आप जो सदा हृदय-गुहा में निहित हैं, प्राणायाम

के अभ्यासी उपासक और वनों में विचरण करने वाले एकान्त में स्थित साधक आपको खोज लेते हैं। अरणियों के द्वारा मथकर प्रकट हुई प्राकृतिक अग्नि के सदृश आप भी 'ओ३म्-जप' के साथ अर्थ-भावना द्वारा प्रकट होते हैं। आप सहनशील एवं बल-स्वरूप हैं और महान् हैं। हे सर्वज्ञ परमात्मन्! आप का साक्षात्कार योगाभ्यास-रूप परम-पुरुषार्थ से होने के कारण 'बल का पुतला' कहा गया है।

प्राणोपासना से प्रेमभाव

ओं यथा प्राण बलिहृतस्तुभ्यं सर्वाः प्रजा इमाः।
एवा तस्मै बलिंहरान् यस्त्वा शृण्वत् सुश्रवः ॥२४॥

—अथर्व० ११।४।१९॥

हे प्राणेश्वर! जिस प्रकार तुम्हारे लिए ये समस्त प्रजाएं आहुति प्रदान करती हैं। उसी प्रकार जो उपासक तेरे इस प्राण-रूप तत्त्व को जान लेता है, सभी प्राणी उस उपासक को भेंट-सामग्री उपस्थित करके सम्मानित करते हैं।

प्राणायाम से बलवृद्धि

ओं मरुतो वीळु पाणिभिश्चित्रा रोधस्वतीरनु।
यातेमखिद्रयामभिः ॥२५॥

—ऋ० १।३८।११॥

प्राणायाम का अभ्यासी साधक प्राणायाम के समय ध्यान करता है:- हे शुद्ध निर्मल प्राणवायुओ! आओ और अपनी निरन्तर गतिशील धाराओं के साथ दृढ़ प्राणशक्ति रूप हाथों से मेरी इन चित्र-विचित्र, स्थूल-सूक्ष्म धमनियों एवं नस-नाड़ियों में रोग से संघर्ष करने की अवरोधक-शक्ति को स्थापित करो।

प्राण-परिदर्शन करने वाले साधक को ईश्वर का मार्गदर्शन मिलता है

ओं प्रथश्च यस्य सप्रथश्च नामानुष्टुभस्य हविषा हविर्यत्।
धातुर्द्युतानात्सवितुश्च विष्णो रथन्तरमाजभारा वसिष्ठः ॥२६॥

—साम० ५९९॥

परमेश्वर स्वयं विस्तार वाला है; और विस्तार वाले आकाशादि का स्वामी

है । वह अनुष्टुभ्-छन्द युक्त वेदवाणी-रूप हवियों में सर्वश्रेष्ठ हवि है । उस विधाता, ज्ञान-प्रकाश का विस्तार करने वाले, सर्वप्रेरक व सर्वव्यापक प्रभु से प्राण-संयमी योगी शरीर-रथ द्वारा भवसागर से तैरने का ज्ञान प्राप्त करता है ।

प्राणायाम द्वारा प्रकाश और आनन्द

ओं युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः ।
रोचन्ते रोचना दिवि ॥२७॥

—ऋ० १।६।१॥

अङ्ग-अङ्ग में व्याप्त होने वाले हिंसा-रहित, सर्वत्र समष्टि प्राण के रूप में जड़-चेतन में व्याप्त प्राण--वायु को योगाभ्यास की विधि से जो मनुष्य सिद्ध करते हैं, वे ज्ञान-प्रकाश से तेजस्वी होकर परमानन्द को प्राप्त करते हैं ।

ईश्वर द्वारा प्रेरित प्राणों से इन्द्रिय-जय

ओं समी रथं न भुरिजोरहेषत दश स्वसारो अदितेरुपस्थ आ ।
जिगादुप ज्रयति गोरपीच्यं पदं यदस्य मतुथा अजीजनन् ॥२८॥

—ऋ० ९।७१।५॥

जैसे सारथि रथ के घोड़ों को अपने दस उंगलियों वाले हाथों से प्रेरणा देता है, वैसे परमात्मा की प्रेरणा से दस संख्या वाले स्वाभाविक गति वाले प्राण इस प्रकृति-प्रदत्त शरीर में विजयी होते हैं । ये प्रभु-प्रेरित प्राण इन्द्रियों के रहस्यात्मक गुह्य स्थानों के समीप पहुंच कर उन्हें स्पन्दित-जीर्ण-शीर्ण कर देते हैं । इस से इस जीव के इन्द्रिय-गत मनोरथ सम्पन्न होते हैं । अर्थात् उन इन्द्रियों का आन्तरिक निरसन हो जाता है, और साधक जितेन्द्रिय बनता है ।

प्राण के अभ्यासी की बुद्धि सुख और कल्याण पाती है

ओं त्वं वरुण उत मित्रो अग्ने त्वां वर्धन्ति मतिभिर्वसिष्ठाः ।
त्वे वसु सुषणनानि सन्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥२९॥

—साम० १३०६॥

हे प्रकाश स्वरूप सर्वाग्रणी ! आप ही रोगनाशक वरुण हैं, और आप ही सुखदायक मित्र हैं । प्राणाभ्यासी उपासक मनन, निदिध्यासन द्वारा अपने भीतर

आपके प्रकाश को अधिकाधिक बढ़ाते हैं । आप में जो ऐश्वर्य और सब को बसाने की सामर्थ्य विद्यमान है, वह हमें सुखदायी हो । आप इन तीनों कल्याण-रूपों द्वारा हमारी रक्षा कीजिए । [अर्थात् हमारा आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक समग्र मंगल हो !]

प्राणायाम से वृत्ति-निरोध एवं पवित्रता

ओम् इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञ आदित्यानां मरुतां शर्ध उग्रम् ।
महामनसां भुवनच्यवानां घोषो देवानां जयतामुदस्थात् ॥३०॥

—साम॰ १८५७॥

आनन्दवर्षी परमेश्वर का उग्र बल है । ऐसे परमेश्वर को वरण करने वाले जीवात्मा को आत्मिक बल, ब्रह्मचर्य का बल तथा प्राणायाम द्वारा नियन्त्रित प्राणों का बल, आसुरी प्रवृत्तियों पर विजय पाने के लिए आवश्यक है । ऐसे महामनस्वी भुवन-कम्पी दिव्य व्यक्तियों का जयनाद ही सर्वत्र गूंजता है ।

प्राणायाम द्वारा प्रेरक शक्ति की प्राप्ति

ओ३म् प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीथाय प्र हूयसे ।
मरुद्भिरग्न आ गहि ॥३१॥

—साम॰ १६॥

हे प्रकाशरूप प्रभो ! हम साधक आपको अपने योग-साधना-यज्ञ में भक्ति तथा श्रद्धापूर्वक आमन्त्रित करते हैं । जिससे हमारी इन्द्रियों व व्यवहारों की पवित्रता हो सके । हे प्रभो ! प्राणायामं की क्रियाओं द्वारा आपकी प्रेरक शक्तियां (Energies) हम में उद्बुद्ध हों ।

प्राणायाम द्वारा ईशोपासना

ओम् अर्चन्त्यर्कं मरुतः स्वर्का आ स्तोभति श्रुतो युवा स इन्द्रः ॥३२॥

—साम॰ ४४५॥

प्राणायाम के अभ्यासी साधक उत्तम अर्चना के साथ जब परब्रह्म की उपासना करते हैं, तब परमेश्वर उनकी पूरी सहायता करता है । वही ईश्वर सर्वशक्ति-सम्पन्न चिर-युवा इन्द्र है ।

प्राणायाम से ईश-सान्निध्य

ओं विभ्राट् बृहत् पिबतु सोम्यं मध्वायुर्दधद्यज्ञपतावविह्रुतम् ।
वातजूतो यो अभिरक्षति त्मना प्रजाः पिपर्ति बहुधा विराजति ॥३३॥

—साम॰ १४५३॥

दीप्ति-सम्पन्न परमात्मा हम साधकों के भक्ति-रस-रूपी मधु का पान करें, और हम आत्मयाजियों में छल-कपट-रहित जीवन स्थापित करें । आप ही प्राणायाम की विधि से प्रेरित होकर प्रजा की रक्षा व पोषण करते हुए नाना रूपों में विराजमान होते हैं ।

प्राणायाम से योगानुकूल चित्तभूमि बनाना

ओम् अभि वायुं वीत्यर्षा गृणानो अभि मित्रावरुणा पूयमानः ।
अभी नरं धीजवनं रथेष्ठामभीन्द्रं वृषणं वज्रबाहुम् ॥३४॥

—ऋ॰ ९।९७।४९॥

हे साधक ! तू परमेश्वर की स्तुति करता हुआ उसकी प्राप्ति के लिए उस के प्राण-स्वरूप को जान । तू उसके मित्र-रूप को तथा पाप-निवारक स्वरूप को पहचान । तेरे इस शरीर-रूप रथ में जो बुद्धि-प्रेरक तथा कर्म-प्रेरक स्वरूप रथी बना हुआ है, उस को पहचान । तू वज्रबाहु इन्द्र की ओर गति कर ।

प्राणायाम योग के लक्ष्य तक पहुंचाते हैं

ओं प्र वायुमच्छा बृहती मनीषा बृहद्रयिं विश्ववारं रथप्राम् ।
द्युतद्यामा नियुतः पत्यमानः कविः कविमियक्षसि प्रयज्यो ॥३५॥

—ऋ॰ ६।४९।४॥

हे श्रेष्ठ योग-यज्ञ करने वाले ! बृहद्-ब्रह्म से जुड़ी हुई मनीषा/एकाग्रता के साथ शुद्ध प्राण वायु को भलीभांति ग्रहण करो । यह समग्र-स्वास्थ्य रूपी सर्वोत्तम धन देने वाली है, समस्त विश्व में व्याप्त है, शरीर रूपी रथों को पूर्ण करती है। इसी प्राण-वायु द्वारा प्राणियों के सम्मुख सारे पदार्थ प्रकाशित होते हैं । इस की गति निर्धारित करके, सब ऐश्वर्यों का स्वामी बनते हुए, क्रान्तदर्शी योगी बनकर उस महान् कवि परमेश्वर तक पहुंच सकते हो ।



☆ बहिरंग से अन्तरंग की ओर ☆

स्थूल-शरीर-गत अन्नमय कोश और प्राणमय कोश के परिशोधन-हेतु आसन और प्राणायाम की साधना का तथा प्रभु की दिव्य शक्तियों द्वारा परिपोषण का संकेत पिछली निधियों (=अध्यायों) में हुआ है। प्राणायाम-साधना में 'प्राण-परिदर्शन' द्वारा सूक्ष्म शरीर से सम्बद्ध प्रत्याहार एवं धारणा का प्रारम्भ भी हो जाता है। तभी तो महर्षि पतञ्जलि ने उस का प्राप्तव्य धारणा की योग्यता (–योग॰ २।५३) बताया है। इस प्रकार 'प्राणायाम' साधक को अन्तरंग योग की ओर अभिमुख करता है। तथापि उसे बहिरंग योग ही माना गया है।

अगला योगाङ्ग है–'प्रत्याहार', जिसमें इन्द्रियां अपने विषयों का उपयोग-उपभोग छोड़कर चित्त के स्वरूप का अनुसरण करती हैं–

'स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।'

–योग॰ २।५४॥

इस प्रकार योग-साधक को अन्तर्मुखी करने पर भी प्रत्याहार को महर्षि ने अन्तरंग योग के साथ नहीं रखा। कारण, यदि धारणा आदि नहीं की जातीं, तो प्रत्याहार भी इन्द्रियों के संयम तक ही सीमित रह जाता है –**'ततः परमा वश्यता इन्द्रियाणाम् ।'** (–योग॰ २।५५)। वस्तुतः, प्रत्याहार की स्थिति बहिरंग और अन्तरंग की सीमा को विभाजित करती है।

आगे दिये मन्त्रों में सूक्ष्म-शरीर के मुख्य द्वार मनोमय कोश की शक्तियों-विशेषताओं आदि का विवरण है। योग-साधक की अन्तर्यात्रा भी मन को समझने से ही प्रारम्भ होती है। अतः कह सकते हैं कि अब पाठक-साधक शनै-शनैः योग साधना में बहिरंग से अन्तरंग की ओर बढ़ रहे हैं।



मनोमय कोश : प्रत्याहार एवं चित्तप्रसादन

मन की श्रेष्ठता

ओ३म् ध्रुवं ज्योतिर्निहितं दृशये कं मनो जविष्ठं पतयत्स्वन्तः ।
विश्वे देवाः समनसः सकेता एकं क्रतुमभि वि यन्ति साधु ॥१॥

—ऋ० ६।९।५॥

'क' नाम सुखों–आनन्दों की अनुभूति–रूप दर्शन के लिए एक अन्य स्थिर ज्योति भी इस आत्मा के साथ शरीर में सन्निहित है, जो गतिशीलों के बीच सर्वाधिक वेगवान् है, उसका नाम है–'मन'। समस्त देव अर्थात् इन्द्रिय–गण उस मन के साथ जुड़कर ज्ञान या पहचान का अनुभव लेते हैं। तभी वे किसी अभीष्ट संकल्प को सम्यक् प्रकार से आगे ले जा पाते हैं, सम्पन्न करते हैं।

इन्द्रियों की चंचलता

ओं वि मे कर्णा पतयंतो विचक्षुर् वी३दं ज्योतिर्हृदय आहितं यत् ।
वि मे मनश्चरति दूर आधीः किं स्विद् वक्ष्यामि किमु नु मनिष्ये ॥२॥

—ऋ० ६।९।६॥

मेरे कान इधर–उधर भाग रहे हैं, और आंखें भी चंचल होती हैं। यह जो हृदय में स्थापित आत्म–ज्योति है, वह भी अस्थिर हो जाती है। मेरा मन अनेक प्रकार की चिन्ताओं से कहीं बहुत दूर भटक जाता है। ऐसे में भला मैं क्या कहूं, या क्या मनन करूं (सोचूं) ?

[इन्द्रियों के कारण चंचल मन वाला न सही सोच पाता है न ठीक से बोल पाता है, आत्मचिन्तन तो कैसे करेगा ? अतः हम प्रत्याहार करें।]

मन की एकाग्रता

ओं मनो न्वाह्वामहे नाराशंसेन स्तोमेन ।
पितृणां च मन्मभिः ॥३॥

—यजु० ३।५३॥

हम महान् पुरुषों, ऋषियों द्वारा प्रयुक्त प्रशंसनीय स्तुति-वचनों की सहायता से, अर्थात् मन्त्र-पाठ आदि द्वारा अपने मन का आह्वान कर रहे हैं, उस के भटकाव को दूर कर दत्त-चित्त करें । पितरों को जो कार्य या व्यवहार प्रिय हैं, उनके द्वारा भी मन को एकाग्र करें ।

मन से जीवन, मन से ज्ञान

ओम् आ नऽएतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे ।
ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥४॥

—यजु० ३।५४॥

हमारा मन जो बार-बार बाह्य-विषयों में चला जाता है, वह सब ओर से हटकर पुनः एकाग्र हो जाए, जिससे हम यज्ञ-उपासना आदि श्रेष्ठ कर्म कर सकें, सभी कर्मों में निपुणता, कुशलता प्राप्त हो; दीर्घ जीवन मिले तथा दीर्घकाल तक निरन्तर सूर्य का, ईश्वरीय प्रकाश का दर्शन हो ।

मन को प्राणियों की सेवा में लगाएं

ओं पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः ।
जीवं व्रातं सचेमहि ॥५॥

—यजु० ३।५५॥

हे पितृजन ! वृद्ध-हित-चिन्तक सम्बन्धियो ! आपकी कृपा से दिव्य आध्यात्मिक ज्ञान से युक्त जन हमारे मन को ऐसी उत्तम प्रेरणा दें कि हम व्रतों से युक्त जीव-मात्र की सेवा करते रहें ।

['व्रत' शब्द का भाव है संकल्प लेकर स्वीकृत किये हुए नियम को जीवन में अपनाना । शुद्ध-पवित्र सज्जन ही ऐसा व्रत लेते हैं । इस प्रकार, वेद के अनुसार सेवा पाने की योग्यता केवल उत्तम व्यक्तियों में ही है ।]

मन को ईशाज्ञा एवं सन्तति के पालन में लगाएं

ओं वयं सोम तव व्रते मनस्तनूषु बिभ्रतः ।
प्रजावन्तः सचेमहि ॥६॥

—ऋ० ३।५६।।

हे सौम्य स्वभाव वाले पिता-परमेश्वर ! तेरी आज्ञाओं के पालन में मन लगाते हुए, और उससे अपने तीनों – स्थूल, सूक्ष्म व कारण शरीरों का सम्यक् भरण-पोषण करते हुए, उत्तम प्रजाओं (सन्तति) वाले होकर उन के सुख को प्राप्त करते रहें ।

मनः-शुद्धि : शिवत्व का संकल्प

ओं यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥७॥

—यजु० ३४।१।।

दिव्य आत्मशक्ति का साथी मन जागृत अवस्था में न जाने कितनी दूर तक पहुंच जाता है ! वही मन सुप्तावस्था में उसी प्रकार गतिशील रहता है । वह दूरगामी सभी प्रकाशक इन्द्रिय आदि साधनों का प्रकाशक है । ऐसा मेरा मन सर्व-मगंलमय संकल्पों से युक्त हो ।

ओं येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः ।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥८॥

—यजु० ३४।२।।

जिस की सहायता से सदा धर्म-कर्म-निष्ठ मनस्वी योगी-जन योग-यज्ञों में (विद्या में) तथा धैर्यवान् ध्यानी-जन सांसारिक ज्ञान व संघर्षों में (अविद्या में), अपने क्रिया-कलाप सम्पन्न करते हैं; जो अपूर्व प्रकाशशील है, (केनोपनिषद् की कथानुसार 'यक्ष' को सर्वप्रथम जानने वाला इन्द्र अर्थात् इन्द्रियों का स्वामी मन ही है), ऐसा वह मेरा मन सर्व-मंगलमय संकल्पों से सम्पन्न हो ।

ओं यत् प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च, यज्ज्योतिरन्तमृतं प्रजासु ।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते, तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥९॥

—यजु० ३४।३।।

जो प्रकृष्ट ज्ञान, चेतना (स्मृतिधारी चित्त) व धैर्य का साधन है; जो मनुष्य-मात्र के अन्तःकरण में अमर, नाश-रहित, प्रकाश-रूप है; जिसके बिना कोई भी कर्म नहीं किया जाता; वह मेरा मन सर्वमंगलमय संकल्पशील हो ।

[मन का स्वरूप प्रकाशशील है, और समस्त चेतन प्राणियों में अनुस्यूत मन=Universal mind से मेरे मनं का भी गहरा सम्बन्ध है ।]

ओं येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥१०॥

—यजु० ३४।४॥

जिसने अमृतरूप आत्मा के सम्पर्क-वश सारे अतीत, वर्तमान व आगामी समय के वस्तुमात्र को सब ओर से ग्रहण किया हुआ है; सात होताओं वाले यज्ञ का जो विस्तार करता है, वह मेरा मन शिव-सङ्कल्पों वाला हो ।

[यहां दुबारा अमृत शब्द का प्रयोग मन के लिए ही किया प्रतीत होता है । यह मन त्रिकालज्ञ है । सब पदार्थों को ग्रहण किये रखने की अद्भुत सामर्थ्य इस सूक्ष्म मन में निहित है । इसीलिए ध्यान का, सिद्धि का भी आधार यही है।

ओं यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिꣳश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥११॥

—यजु० ३४।५॥

इसी मन में दिव्य ऋचाएं, सामगान और यजुष्-कर्म निहित हैं । जैसे रथ-चक्र के केन्द्र में अरे जुड़े होते हैं, वैसे ही इसी में यह समस्त वैदिक ज्ञान प्रतिष्ठित है । इसी में प्राणिमात्र का चित्त (विश्वात्मा की चेतना) भी ओत-प्रोत है । ऐसा मेरा मन शिव-सङ्कल्पमय बने !

[त्रयी वेद-विद्या का निधान यही मन है । ऊपर नौवें मन्त्र की बात फिर से समर्थित है कि मेरे मन से विश्व भर का मन जुड़ा हुआ है ।]

ओं सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥१२॥

—यजु० ३४।६॥

जैसे कुशल सारथि रथ के अश्वों को साधता है, और लगामों द्वारा वेगवान् पशुओं को नियन्त्रित करता है, वैसे ही यह मन इन्द्रियों द्वारा मनुष्यों को पुनः-पुनः लगातार इधर-उधर चलाया करता है । यह मन हृदय में प्रतिष्ठित है, कभी जीर्ण

नहीं होता और सर्वाधिक वेगवान् है । वह मेरा मन शिव-सङ्कल्पमय हो ।

[यहां मन का स्थान हृदय निर्धारित होता है; वही स्थान आत्मा का है ।]

दुःस्वप्न का नाश हो

ओं विद्म ते स्वप्न जनित्रं ग्राह्याः निर्ऋत्याः अभूत्याः निर्भूत्याः पराभूत्याः देवजामीनां पुत्रोऽसि । यमस्य करणः । अन्तकोऽसि मृत्युरसि । तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म। स नः स्वप्न दुःष्वप्न्यात् पाहि॥१३॥

—अथर्व॰ १६।५।१ से १०॥

हे स्वप्न ! हम तेरे जन्म-स्रोत को जानते हैं । तू [१]गठिया (वातरोग), [४]मनो-व्यथाओं, [५]दरिद्रता, [६]धन-हानि, [७]पराभव-(तिरस्कार, अपमान-पराजय), और [८]उन्माद आदि दोषों की सन्तान है । [१-८]तू यमराज का साधन है । [२-९]इसलिए अन्त करने वाला, और जीवित ही मृत्यु-रूप है । [३-१०]इस प्रकार हम तुझे भलीभांति जानते हैं । अतः हे स्वप्न, तू हमें बुरे स्वप्न देखने से बचा । [यह मन्त्र 'संक्षिप्त' है ।]

हमें सब दोषों से मुक्त करो

ओं त्वं नो अग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेळोऽव यासिसीष्ठाः ।
यजिष्ठो वह्नितमः शोशुचानो विश्वा द्वेषांसि प्रमुमुग्ध्यस्मत् ॥१४॥

—ऋ॰ ४।१।४॥

हे अग्नि के सदृश विद्वान् ! विद्या-प्रकाशक श्रेष्ठ विद्वान् के अनादर की प्रवृत्ति के निवारण की प्रेरणा करो । यज्ञ करने वालों में श्रेष्ठ और सब प्राणियों को इसका अत्यन्त लाभ पहुंचाने वाले हम लोगों के प्रति अत्यन्त प्रकाशमान हुए आप सब द्वेष-युक्त कर्मों को हम लोगों के पास से अलग कीजिए ।

हमारे शत्रु न हों

ओं मा प्रगाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः ।
मान्तः स्थुर्नो अरातयः ॥१५॥

—ऋ॰ १०।५७।१॥

हे परमेश्वर ! ज्ञानयुक्त हम सन्मार्ग से दूर न जायें । उपासना व यज्ञ-कर्म कभी न त्यागें, जिससे अदानशील व हिंसादि बुरे कर्म करने वाले हमारे बीच में न रहें ।

हमें आत्म-संयम की शक्ति प्राप्त हो

ओं मा न इन्द्र पीयत्नवे मा शर्धते परा दाः ।
शिक्षा शचीवः शचीभिः ॥१६॥

—साम॰ १८१२॥

हे परमेश्वर ! हमें हमारी हिंसा करने वाले काम-क्रोध आदि दोषों के, तथा तिरस्कृत करने वाली बाधाओं के अधीन मत होने दीजिए । निज शक्तियों द्वारा हमें शक्तिशाली बनने की शिक्षा दीजिए । [परमात्मा तो सदा स्वभाव से श्रेष्ठ कर्म में प्रेरित करता ही रहता है । यह प्रार्थना वस्तुतः उसकी प्रेरणा व शिक्षा को अपनाने का संकल्प ही व्यक्त करती है ।]

आओ हम सब सांसारिकता से ऊपर उठ जाएं

ओम् अश्मन्वती रीयते संरभध्वं वीरयध्वं प्रतरता सखायः।
अत्रा जहीत ये असन् दुरेवा अनमीवानुत्तरेमाभि वाजान्॥१७॥

—अथर्व॰ १२।२।२६॥

राग, द्वेष, मोह आदि पत्थरों वाली सांसारिक नदी वेग से बह रही है। मित्रो ! उठो, मिलजुल कर उद्यम करो और इसे पार कर लो । तुम्हारे पास खोटी चालों का जो बोझ है, उसे यहीं छोड़ दो । आधि-व्याधि-रहित स्वस्थ ऐश्वर्यों को पाने के लिए आओ हम और तुम इस के पार उतर जाएं ।

हम विद्वानों से प्रेरणा व सौमनस्य पायें

ओम् एह्यग्न इह होता निषीदादब्धः सु पुर एता भवा नः ।
अवतां त्वा रोदसी विश्वमिन्वे यजामहे सौमनसाय देवान् ॥१८॥

—ऋ॰ १।७६।२॥

हे सर्वोपकारक दानशील विद्वन् ! यहां यज्ञ में आकर शान्ति से बैठिए, उत्तम ज्ञान दीजिए । आपके लिए हमारे मन में दुर्भाव न हो, और हमें आप आगे बढ़ने की प्रेरणा दीजिए । आपको सब संसार को तृप्त करने वाली विद्या का प्रकाश और भूगोल का राज्य प्राप्त हो । आप मन का वैर-भाव छुड़ाने के लिए, दिव्य गुणों को हमारी आत्मा में संगत कीजिए ।

सब के प्रति मैत्री का भाव

ओं दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् । मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे । मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥१९॥

—यजु॰ ३६।१८॥

हे अविद्या-अन्धकार-निवारक प्रभो ! सब प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें । मैं सब प्राणियों को मित्र-दृष्टि से देखूं । इस प्रकार हम सब परस्पर एक दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखें । इस अवस्था में मुझे दृढ़ करो अर्थात् व्यवहार में भी मैं सर्वमित्रता पर अटल रहूं ।

मैत्री का व्यापक रूप

ओं यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥२०॥

—यजु॰ ४०।६॥

जो विद्वान् योगी-जन अपने परमात्मा में ही सब जड़-चेतनों को विद्या, धर्माचरण और योगाभ्यास द्वारा ध्यान की दृष्टि से देखता है, और सब प्रकृत्यादि पदार्थों में सर्वत्र व्यापक परमात्मा को देखता है, वह योगी ऐसे सम्यक्-दर्शन के पीछे कभी भी सन्देह को प्राप्त नहीं होता ।

मेरी इन्द्रियों में पवित्रता, कर्मठता हो

ओं ता मे अश्व्यानां हरीणां नितोशना ।
उतो नु कृत्व्यानां नृवाहसा ॥२१॥

—ऋ॰ ८।२५।२३॥

मेरी हरणशील, मन का अपहरण करने वाली, चंचल करने वाली ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां काम-क्रोध आदि शत्रुओं की विनाशक हों । ये कर्मठ मनुष्यों को सुख पहुंचाने वाली बनें ।

तेंतीस देवों को एकत्र एकाग्र कर प्रत्याहार करें

ओं ये त्रिंशति त्रयस्परो देवासो बर्हिरासदन् ।
विदन्नह द्वितासनन् ॥२२॥

—ऋ॰ ८।२८।१॥

ये सभी तेंतीस देव मेरे अन्तःकरण में विराजमान हों। [चंचल होकर इधर-उधर न भागें। यहां स्थित होकर निश्चय ही परमात्मा को प्राप्त करें।] दो प्रकार के ज्ञान-योग व कर्म-योग द्वारा अपने-अपने समीप से दुर्व्यसनों को दूर कर देवें।

स्वाध्याय से मनोमय कोश की परिशुद्धि

ओं कविर्वेधस्या पर्येषि माहिनमत्यो न मृष्टो अभि वाजमर्षसि।
अप सेधन् दुरिता सोम नो मृड घृता वसानः परि यासि निर्णिजम्॥२३॥

—साम० १३१८॥

हे साधक ! तुम वेद-काव्य के विद्वान् होकर विधि-विधान के स्रष्टा परमेश्वर की ओर प्रयाण करते हो। तुम किसी अति से दबाये नहीं जाते, और उस वेगवान् को प्रत्यक्ष पहचान लेते हो। हे सौम्य प्रकृति-उपासक ! दुष्परिणामी अवांछनीय कर्मों को दूर करते हुए तुम हमे सुखी बनाओ। जीवनोपयोगी जल के समान पवित्र होते हुए तुम उस नितान्त निर्मल मन से उपासना में संलग्न रहो।

वैदिक ज्ञान से विरोधी भाव व विद्वेष की समाप्ति

ओं येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत् कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥२४॥

—अथर्व० ३।३०।४॥

सर्वज्ञान के स्रोत ईश्वर का यह आश्वासन है कि—'जिस आचरण से विद्वान् लोग परस्पर विरुद्ध-भाव वाले और विद्वेष रखने वाले नहीं होते, वह श्रेष्ठ अलौकिक ज्ञान मैं तुम्हारे घर में सभी मनुष्यों के लिए प्रकाशित करता हूं।'

परिवार में माधुर्य व सौमनस्य हो

ओम् अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु सम्मनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥२५॥

—अथर्व० ३।३०।२॥

परिवार में पुत्र पिता के व्रतों-नियमों के अनुकूल आचरण करने वाला हो तथा माता के साथ मन को मिलाकर चले। पत्नी पति के लिए शान्ति-युक्त मधुर वाणी में वार्तालाप करे तथा पति भी ऐसा ही करे।

ईश्वर ने सब को समान मन-वाला बनाया है

ओं ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वियौष्ट सं राधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि ।।२६।।

—अथर्व॰ ३।३०।५।।

बड़प्पन वाले, बड़ों को सम्मान देने वाले और श्रेष्ठ चित्त से युक्त होकर परस्पर पृथक्ता मत रखो । समृद्धि से सम्पन्न होते हुए एक धुरी पर चलते रहो, जिससे लक्ष्य एक बना रहे । एक-दूसरे के प्रति मीठी-मनोहर वाणी बोलते हुए समीप आओ । मैं तुम्हें एक जैसी गति, बुद्धि और मन से संयुक्त करता हूं । [यह ईश्वर की समदर्शिता का स्पष्ट आश्वासन है । वस्तुतः वह किसी को कम या अधिक सामर्थ्य देकर भेद-भाव कर ही कैसे सकता है ?]

श्रद्धा द्वारा ईश्वरीय शक्ति प्राप्त हो

ओं कस्तमिन्द्र त्वा वसवा मर्त्यो दधर्षति ।
श्रद्धा हि ते मघवन् पार्ये दिवि वाजी वाजं सिषासति ।।२७।।

—साम॰ २८०।।

हे परमेश्वर ! कौन मरणधर्मा मनुष्य आपको दबा सकता है । हे ऐश्वर्यशाली! योग-पारंगत ज्ञान-प्रकाश में उत्पन्न हुई आपके प्रति श्रद्धा ही उपासक को अत्यधिक योग-बल प्रदान कर सकती है, क्योंकि आप ही बलों के स्वामी हैं ।

श्रद्धा का महत्व

ओं श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः ।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ।।२८।।

—ऋ॰ १०।१५१।१।।

सत्य को धारण करने वाली क्रिया-सहित श्रद्धा के द्वारा योगाभिलाषी साधक अपने अन्तःकरण में योगाग्नि को प्रज्वलित करता है । श्रद्धा के वशीभूत ईश्वर-प्रणिधान के पालन में वह साधक आत्मरूप हवि को समर्पित करता है । वेदवाणी के अनुसार श्रद्धा को मैं ऐश्वर्य के शीर्ष पर स्थित जानता हूं ।

[यह 'श्रद्धा' ईश्वर के प्रति है, किसी व्यक्ति या स्थान के प्रति अन्ध-विश्वास नहीं ।]

ओम् श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि ।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः ॥२९॥

—ऋ० १०।१५१।५॥

हम उपासक प्रातःकाल, मध्याह्न तथा सूर्यास्त के समय भी श्रद्धा का आह्वान करते हैं । हे श्रद्धे ! इस जीवन व लोक में हमें श्रद्धायुक्त कर दीजिए। ['चित्त-सम्प्रसाद' के लिए सत्य को धारण करने की क्षमता प्रदान कराइए ।]

चित्त-प्रसाद के अन्य साधन

हम द्रोह-रहित हों

ओम् अस्य व्रते सजोषसो विश्वे देवासो अद्रुहः ।
स्पार्हा भवन्ति रन्तयो जुषन्त यत् ॥३०॥

—ऋ० ९।१०२।५॥

इस परमात्मा के नियम में संगत हुए सम्पूर्ण विद्वान् द्रोह-रहित होकर प्रेम से परमात्मा की उपासना करें । यदि रमणशील विद्वान् प्रीति से परमात्मा की भक्ति करते हैं, तो संसार के अन्यन्त प्रिय करने वाले होते हैं ।

चित्त-संप्रसाद : माधुर्य

ओं जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम् ।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥३१॥

—अथर्व० १।३४।२॥

मेरी जिह्वा के अग्रभाग पर मिठास हो और जिह्वा के मूल में भी ज्ञान एवं मधुरता हो । हे माधुर्य ! मेरे कर्म व बुद्धि में रहो, और तुम चित्त में भी सदा विद्यमान रहो ।

चित्त-प्रसादन : मैं मधुर बनूं

ओं मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम् ।
वाचा वदामि मधुमत् भूयासं मधु-संदृशः ॥३२॥

—अथर्व० १।३४।३॥

मेरा निकलना, दूर जाना मधुर हो । मैं मधुरवाणी बोलूं । मैं सर्वथा मधु-जैसा मधुर एवं सुदर्शन बनूं । [दुष्ट शत्रु या पापी के प्रति क्या रुद्र-रूप धारण न करूं ? अवश्य करूं, किन्तु भीतर से माधुर्य बना रहे; क्योंकि मेरा रौद्र-भाव उसके कल्याण के लिए ही है, अपनी प्रति-क्रिया या प्रतिहिंसा के लिए नहीं ।]

मनोमय कोश की साधना व साधन

ओं त्वं शश्वतीनामिन्द्र दर्ता पुरामसि ।
हन्ता दस्योर्मनोर्वृधः पतिर्दिवः ॥३३॥

—ऋ० ८।९८।६॥

हे परमेश्वर ! आप हमारे अन्तःकरण की दृढ़ दुभार्वना-रूपी ग्रन्थियों से भरे भवनों को तोड़ देने वाले हो । अन्तःकरण के विकार-रूपी दस्युओं को आप ही नष्ट करते हो । मननशील को आप ही उत्साहित करते रहते हो । आप ही प्रकाश-लोक के सरंक्षक हो ।

मनोमय कोश में दस इन्द्रियों की निर्मलता

ओम् एतमु त्यं दश क्षिपो मृजन्ति सिन्धुमातरम् ।
समादित्येभिरख्यत ॥३४॥

—ऋ० ९।६१।७।, साम० २८१॥

समग्र ब्रह्माण्ड का माता के समान स्नेह-सहित पालन करने वाले उस परमात्मा की उपासना से साधक की पांच ज्ञानेन्द्रियां एवं पांच कर्मेन्द्रियां पवित्र हो जाती हैं । साथ ही मूल-प्रकृति की अखण्ड शक्तियों द्वारा सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान प्राप्त होता है ।

सब ओर शान्ति हो

ओं शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये । शंयोरभिस्रवन्तु नः ॥३५॥

—ऋ० १०।९।४॥

जल के समान शान्तिदायक एवं दिव्य-गुण-युक्त व्यापक परमेश्वर हमारी अभीष्ट सिद्धि कराने वाले हैं । आप रसों के समान हमारी पालना करो । ईश्वर की अनन्त शक्तियां हमारे चारों ओर शान्ति की वर्षा करें और कष्टों का निवारण करें ।

शान्ति-हेतु आत्म-प्रेरणा : Autosuggession

ओम् इयं या परमेष्ठिनी वाग् देवी ब्रह्म संशिता ।
ययैव ससृजे घोरं तयैव शान्तिरस्तु नः ॥३६॥

ओम् इदं यत् परमेष्ठिनं मनो वां ब्रह्म संशितम् ।
येनैव ससृजे घोरं तेनैव शान्तिरस्तु नः ॥३७॥

ओम् इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनःषष्ठानि
मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि ।
यैरेव ससृजे घोरं तैरेव शान्तिरस्तु नः ॥३८॥

—अथर्व० १९।९।३,४,५॥

यह जो परम सूक्ष्म रूप में स्थित ज्ञान से तीक्ष्ण बनाई हुई वाक्-शक्ति है, और जिसके दुरुपयोग द्वारा भयंकर घोर परिणाम उत्पन्न होते हैं; उसी के सदुपयोग से हमें शान्ति प्राप्त हो ।

यह जो परम सूक्ष्म रूप में स्थित हमारा और आप का मन ज्ञान द्वारा तीक्ष्ण किया गया है, और जिसके तमोगुणी होने से घोर कार्य होते हैं, उसी की स्थिरता से हम सब को शान्ति मिले ।

ये जो पांच ज्ञानेन्द्रियां और छठा मन मेरे हृदय में ब्रह्म-ज्ञान से प्रखर बनाये गये हैं, और जिनके विकार से हम घोर कर्म कर जाते हैं, उन्हीं की प्रशान्ति से हमें निर्मल शान्ति प्राप्त हो ।



राग-द्वेष-वियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर् विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥

—गीता २।६४॥



विज्ञानमय कोश : धारणा, ध्यान, समाधि एवं विभूतियां

कल्याण की धारणा

ओ३म् विश्वानि देव सवितर् दुरितानि परासुव ।
यद् भद्रं तन्न आसुव ॥१॥

–यजु॰ ३०।३॥

हे देव सवितः ! दिव्य गुण युक्त सर्वप्रेरक परमशक्तिमान् प्रभो ! समस्त दुराचरणों को हम से दूर भगा दो । हमारा कल्याण करने में समर्थ जो भी भद्र तत्त्व हैं वे हमारी ओर स्रवित-द्रवित होवें ।

[दुरितों द्वारा मन को वशीभूत करने की सम्भावना तब तक अधिक है, जब तक कि हमारी वृत्तियां बहिर्मुखी हैं । जैसे ही हम अन्तर्मुखी होने लगते हैं दुरितों का निवारण और भद्र का अवतरण प्रारम्भ होने लगता है । अष्टांग योग में यह स्थिति 'प्रत्याहार' के उपरान्त 'धारणा' द्वारा उपस्थित होती है ।]

बुद्धियों की प्रेरणा हेतु ईश्वर-धारणा

ओं भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर् वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥२॥

–यजु॰ ३६।३॥

हे सत्-चित्-आनन्दमय प्यारे ओ३म् ! आप ही संसार का सृजन, पालन एवं संहार करने वाले हैं । आप ही उत्तम प्रेरणाएं देने वाले हमारे एकमात्र इष्टदेव

हैं। आप का तेजोमय स्वरूप ही पापों-सन्तापों को भस्म करने वाला है। आपके इस वरणीय स्वरूप का हम ध्यान और धारण करें, जो हमारी बुद्धियों को उत्तम गुण, कर्म, स्वभावों में प्रेरित करे।

कर्म व ज्ञान के लिए द्विविध इन्द्रिय-रूपी घोड़े

ओं स्मदभीशू कशावन्ता विप्रा नविष्ठया मती।
महो वाजिनावर्वन्ता सचासनम् ॥३॥

—ऋ० ८।२५।२४॥

मैं उपासक नूतन-नूतन बुद्धियों से युक्त ज्ञान एवं कर्म के लिए इन्द्रियरूपी घोड़े एक साथ ही प्राप्त किये हुए हूं, जो शोभन ज्ञान-रज्जु से युक्त हैं, विवेक-कशा से संयुक्त हैं, मेधावी विचारशील तथा अत्यन्त शीघ्रगामी हैं। [उपनिषदों में शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि की रथ, अश्व, लगाम, सारथि आदि से समानता की प्रेरणा यहां से प्रसूत प्रतीत होती है।]

विज्ञानमय कोश क्या है ?

ओं तद् वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः।
तत् प्राणो अभिरक्षति शिरो अन्नमथो मनः ॥४॥

—अथर्व० १०।२।२७॥

निश्चल स्थितप्रज्ञ योगी का शीर्षस्थ मस्तिष्क सब ओर से भलीभांति निरुद्ध एवं सुरक्षित इन्द्रिय-देवों का विज्ञानमय कोश है। उस विज्ञानमय कोश मस्तिष्क की सुरक्षा अन्नमय, प्राणमय एवं मनोमय कोश तीनों ही करते हैं।

अन्तरंग-साधना से सिद्धियाँ पाओ

ओम् उपयाम गृहीतोऽस्यन्तर्यच्छ मघवन् पाहि सोमम्।
उरुष्य राय ऽ एषो यजस्व ॥५॥

—यजु० ७।४॥

हे योग-जिज्ञासु ! तू यम-नियमों को ग्रहण करने वाला साधक है। अब तू आन्तरिक प्राण इन्द्रिय और मन को नियन्त्रित करने की साधना प्रारम्भ कर। इस प्राण आदि की साधना से सम्पन्न होकर योग के ऐश्वर्य सोमतत्त्व की रक्षा कर। अविद्या आदि क्लेशों को नष्ट करके ऋद्धि-सिद्धियों को भलीभांति सिद्ध कर।

परमेश्वर–ज्योति की धारणा द्वारा पदार्थों का ज्ञान

ओं युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः ।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्याऽध्याभरत् ॥६॥

—यजु० ११।१॥

(क) ऐश्वर्य की कामना करने वाला मनुष्य परमेश्वर के तत्त्व विज्ञान के लिए पहले मनन व अन्तःकरण की वृत्ति को योगाभ्यास से युक्त करता हुआ पृथिवी आदि पञ्चभूतों में विद्यमान विद्युत् के प्रकाश को निश्चित जानकर पृथिवी के विषय में भलीभांति धारणा बनाए । इस प्रकार वह भूगर्भ-विद्या को जान लेता है ।

(ख) योगाभ्यास करने वाला साधक तात्त्विक ब्रह्म-ज्ञान के लिए पहले अपने मन को और फिर अपनी बुद्धियों को समाहित करता है । और फिर उस अग्रणी गुरु परमेश्वर की ज्योति अपने अन्तस् में जागृत कर उसके प्रकाश से पूरी पृथ्वी को सब ओर से भर देता है ।

मन को ईश्वरीय आनन्द से जोड़ें

ओं युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे ।
स्वर्ग्याय शक्त्या ॥७॥

—यजु० ११।२॥

सर्वस्रष्टा परमेश्वर द्वारा विनिर्मित इस सृष्टि में हम अपने मन को अलौकिक आनन्दमयी शक्ति के साथ संयुक्त कर के स्थित रहें ।

धारणा से विज्ञानमय कोश की शुद्धि

ओं युञ्जते मनऽउत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुना विदेकऽइन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥८॥

—यजु० ११।४॥

सर्वशास्त्र-ज्ञाता ब्रह्मविद्या-निष्णात महान् विद्वान् योगियों से योग-विज्ञान पाने के लिए विद्वान् साधक जन अपने मन और बुद्धि दोनों कोशों को समाहित कर योगयुक्त होते हैं । इन योग-विद्या के प्रदाताओं के अनुसार एक ही परमेश्वर को प्रकृष्ट ज्ञान वाला जानते हुए धारण करता हूं । उस सविता देव की सब प्रकार की स्तुति महान् है ।

संसार के स्वामी से ही मेधा मांगूं

**ओं सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् ।
सनिं मेधामयासिषम् ॥९॥**

—ऋ० १।१८।६॥

जीवात्मा (इन्द्र) के अभीष्ट कमनीय प्रिय एवम् अद्भुत, सदसस्पति= सारे संसार के स्वामी परमेश्वर से मैंने सर्वोत्तम धन रूप मेधा-बुद्धि को प्राप्त कर लिया है ।

इसलिए ईश्वर की धारणा करनी योग्य है

**ओं यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन ।
स धीनां योगमिन्वति ॥१०॥**

—ऋ० १।१८।७॥

जिस सदसस्पति=जगत् के पालक के विना किसी भी विद्वान् योगी का योग-यज्ञ सम्पन्न नहीं होता, वही परमेश्वर योग-युक्त बुद्धियों को समाहित कर उन में व्याप्त होता है ।

ईश्वर-धारणा का फल

**ओम् आदृध्नोति हविष्कृतिं प्राञ्चं कृणोत्यध्वरम् ।
होत्रा देवेषु गच्छति ॥११॥**

—ऋ० १।१८।८॥

अपनी आत्म-हवि को परमात्म-रूपी अग्नि में समर्पित करने के पश्चात् सदसस्पति ऐसे ईश्वर-प्रणिधानी को यौगिक शक्तियों से समृद्ध करता है । उस के योग-यज्ञ को प्रकृष्टतर और निर्विघ्न करता रहता है । उसकी समर्पण-स्तुतियां दिव्य शक्तियों को परितुष्ट करने में समर्थ हो जाती हैं ।

जप द्वारा ईश्वर-धारणा

ओं नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरोषसः । यदजः प्रथमं संबभूव स ह तत् स्वराज्यमियाय यस्मान्नान्यत् परमस्ति भूतम् ॥१२॥

—अथर्व० १०।७।३१॥

योग-साधक सूर्योदय तथा उषा के आने से पहले ईश्वर के निजनाम ओंकार को अर्थ-भावना के साथ जप करते हुए 'स्कम्भ'=सर्वाधार ब्रह्म का आह्वान करता है। उपासना के द्वारा वह अजन्मा सर्वप्रथम प्रकट होता है। वह उपासक निस्सन्देह सच्चे 'स्वराज्य'-वाला आत्मवशी हो जाता है। इस स्वतन्त्रता से बढ़कर उत्तम पदार्थ और कुछ नहीं है।

केवल ओ३म् की धारणा

ओं मनो जूतिर्जुषतामाज्यस्य बृहस्पतिर्यज्ञमिमं तनोत्वरिष्टं यज्ञं समिमं दधातु। विश्वे देवासऽइह मादयन्तामो३म् प्रतिष्ठ ॥१३॥

—यजु० २।१३॥

मेरा मन योगाभ्यास रूपी आत्म-हवि के प्रभाव को सेवन करे। लोक-लोकान्तर के स्वामी बृहस्पति मेरे इस योग-यज्ञ को विस्तृत करो। हिंसा-रहित इस योग-यज्ञ को अच्छी प्रकार धारण कराओ। विश्व की दैवी शक्तियो! इस योग-यज्ञ में आनन्दित होओ। हे ओंकार-नामी प्रभो! हमारे हृदय में प्रतिष्ठित हो जाओ।

धारणा ईश्वर की अपने ही भीतर

ओं सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक्।
धीरा देवेषु सुम्नया ॥१४॥

—यजु० १२।६७

ध्यान करने वाले साधक यथायोग्य विभाग से नाड़ियों में अपने आत्मा से परमात्मा की धारणा करते हैं। वे ज्ञान-युक्त कर्मों में तत्पर रहते हुए विद्वानों से संगत ज्ञान तथा आनन्द को फैलाते हुए सुखानुभूति करते हैं।

सामर्थ्य-वृद्धि के लिए

ओं वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तः शरीरम्।
ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतः स्मर ॥१५॥

—यजु० ४०।१५॥

इस शरीर में धनञ्जयादि रूप वायु, कारण रूप सूक्ष्म प्राण 'अनिल' को, और वह प्राण, नाश-रहित कारण (प्रकृति) को धारण करता है। यह विनाशी

शरीर अन्त में भस्म होने वाला है । हे कर्मशील जीव ! तू शरीर-त्याग के समय भी ओ३म् नाम द्वारा ईश्वर का ही स्मरण कर । उत्तम सामर्थ्य-प्राप्ति या मोक्ष के लिए परमात्मा को और अपने स्वरूप को याद कर । जो कुछ जीवन में कर्म किया है, उसे स्मरण कर !

योगाभ्यास में केवल 'ओ३म्' का भाव+अर्थपूर्वक जप

ओं न ते गिरो अपि मृष्ये तुरस्य न सुष्टुतिमसुर्यस्य विद्वान् ।
सदा ते नाम स्वयशो विवक्मि ॥१६॥

—साम० १७९९॥

हे परमेश्वर ! अविद्या के नाशक आपकी वेद-वाणियों को भी विचार करने में मैं असमर्थ हूं । और, प्रज्ञा तथा प्राण-शक्ति के प्रदान करने वालों में सर्वश्रेष्ठ आपकी उत्तम स्मृति के ढंग को भी मैं नहीं जानता । मैं तो सदा आपके विशिष्ट नाम 'ओ३म्' का ही जप, भाव एवम् अर्थ-सहित करता रहता हूं ।

ईश्वर ही उपासितव्य

ओं तमीळत प्रथमं यज्ञसाधं विश आरीराहुतमृञ्जसानम् ।
ऊर्जः पुत्रं भरतं सृप्रदानुं देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम् ॥१७॥

—ऋ० १।९६।३॥

हे साधक जन ! उसी परमेश्वर की स्तुति-उपासना करो जो जगत् का आदि-स्रष्टा है और जिसे योगाभ्यास-युक्त यज्ञकर्मों से जाना व सिद्ध किया जा सकता है । वह प्रजाओं द्वारा विवेक आदि साधनों से साक्षात् करने योग्य तथा विद्वानों द्वारा पूजित है । वह प्राण-ऊर्जा का भी प्राण है, सब का धारण-पोषण करता है, उसी से गति व दान की शक्ति प्राप्त होती है, तथा वह अनन्त द्रव्यों का दाता है । यह जानते हुए दिव्य गुणी विद्वान् उस अग्नि-रूप प्रकाशमान प्रभु की धारणा करते हैं ।

ईश्वर-धारणा

ओं पवमान धिया हितो३ऽभि योनिं कनिक्रदत् ।
धर्मणा वायुमाविश ॥१८॥

—ऋ० ९।२५।२॥

हे पावक परमात्मन् ! बुद्धि से धारण किए हुए आप हमें सदुपदेश करते हुए अपने समस्त गुण-स्वभाव के साथ हमारे हृदय में और प्राणों के स्पन्दनों में प्रवेश कीजिए । अर्थात् आपकी पावन प्रेरणा हम तीव्रता से सदा सुनते रहें ।

बुद्धि-पूर्वक प्रेम से ईश्वर के गुणों को धारण

ओम् अर्चत प्रार्चता नरः प्रियमेधासो अर्चत ।
अर्चन्तु पुत्रका उत पुरमिद् धृष्ण्वर्चत ॥१९॥

—साम० ३६२॥

हे यज्ञप्रिय मनुष्यो ! तुम अब मिलकर ईश्वर की आज्ञा का पालन करो। अच्छी प्रकार पूर्ण मन से उसका चिन्तन, मनन, निरन्तर ध्यान करो । शान्त मन से स्नेह से बुद्धिपूर्वक उसके गुणों को धारण करो । कुल परम्परा से दादा, दादी, माता-पिता, पुत्र-पुत्री, पोते-पोती सभी बड़े-छोटे दुर्गुणों को त्याग कर सदैव उपासना करने वाले बनो ।

ज्योतिर्मय ध्यान

ओम् अग्निमिन्धानो मनसा धियं सचेत मर्त्यः ।
अग्निमीधे विवस्वभिः ॥२०॥

—ऋ० ८।१०२।२२॥

ध्यानाभ्यासी साधक, भौतिक यज्ञाग्नि को प्रदीप्त करता हुआ मनन-शक्ति द्वारा धारणा व बुद्धि से ध्यानावस्था में विचार करें । मैं तो विविध स्थानों पर पहुंचने वाली अन्धकार-नाशक ज्ञान-ज्योतियों द्वारा ज्योतिः-स्वरूप परमेश्वर को ही अपने अन्तःकरण में प्रदीप्त कर रहा हूं ।

अग्नि-मन्थन-रूप ध्यान

ओं त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत ।
मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः ॥२१॥

—साम० ९॥

हे ज्ञानप्रद परमात्मा ! तुझ को निश्चल ध्यानी पुरुष एवं स्थितप्रज्ञ योगी सकल ज्ञानवाहक हृदय-कमल एवं मस्तिष्क में मन्थन कर प्रकट करता है ।

ध्यान से अज्ञान निवारण

ओम् उच्छन्नुषसः सुदिना अरिप्रा उरु ज्योतिर्विविदुर्दीध्यानाः ।
गव्यं चिदूर्वमुशिजो विवव्रुस्तेषामनु प्रदिवः सस्रुरापः ॥२२॥

—ऋ० ७।९०।४॥

उषा के समान ज्ञान-प्रकाशित, दिन में उत्तम व्यवहार करने वाले, निर्दोष, निरन्तर ध्यान करने वाले योगी विशाल प्रकाश को प्राप्त करते हैं। कमनीय कामनाओं वाले, विशाल हृदय से सेवा करने की भावना से शारीरिक व बौद्धिक शक्तियों का वरण करते हैं। उनका ज्ञान-प्रकाश अज्ञान-निवारण के लिए अनुकूल जल के समान बहने लगता है।

ध्यान से शारीरिक वैभव

ओं ते सत्येन मनसा दीध्यानाः स्वेन युक्तासः क्रतुना वहन्ति ।
इन्द्रवायू वीरवाहं रथं वामीशानयोरभि पृक्षः सचन्ते ॥२३॥

—ऋ० ७।९०।५॥

सद्विवेक के ज्ञान से प्रकाशित वे साधक सच्चे मन से ध्यान करते हैं। चेतना के साथ समाहित-चित्त होकर अर्थात् समग्रतः स्वस्थ होकर, योग-यज्ञों द्वारा जीवन-यापन करते हैं। तब इन्द्रियों व प्राण दोनों की शक्तियां अपने ऐश्वर्यप्रद गुणों में स्थापित कर, वीरत्व का वहन करने वाले आपके शरीर-रूपी रथ को सब ओर से ऐश्वर्य से संयुक्त करती हैं।

धारणा-ध्यान की सफलता

ओं तमग्ने पास्युत तं पिपर्षि यस्त आनट् कवये शूर धीतिम् ।
यज्ञस्य वा निशितिं वोदितिं वा तमित्पृणक्षि शवसोत राया ॥२४॥

—ऋ० ६।१५।११॥

दोषों के विनाशक और अविद्या अन्धकार मिटाने वाले ईश्वर ! क्रान्तदर्शी होने के लिए जो साधना-शूर आप में चित्त की धारणा करता है, आप उसकी रक्षा, पालना करते हुए उसे श्रेष्ठ गुणों से परिपूर्ण करते हो। इसके अतिरिक्त बल से एवं वैभव से, तथा यज्ञ आदि श्रेष्ठ कर्मों की तीक्ष्णता एवम् उन्नति देकर भलीभांति स्वयं से सम्बद्ध करते हो।

आनन्दमय कोश का स्वरूप

ओम् अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥२५॥

–अथर्व० १०।२।३१॥

इन्द्रिय-रूप देवताओं की पुरी 'अयोध्या' आठ चक्रों और नौ द्वारों वाली है । उसमें सुनहरी कोश 'हृदयकमल' है । वही ज्योति से घिरा हुआ स्वर्ग है। [आठ चक्र हैं–*मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा, सहस्रार तथा कुण्डलिनी या सूर्यचक्र ।*]

ओं तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते ।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ॥२६॥

–अथर्व० १०।२।३२॥

उस तीन अरों वाले त्रिकोण या तीन ओर से बंधे हुए सुनहरी कोश में जीवात्मा का सखा यक्ष=प्रकाश-स्वरूप परब्रह्म रहता है । उसको निःसन्देह ब्रह्मवेत्ता ही जानते हैं ।

आनन्दमय कोश में जीवात्मा–परमात्मा

ओं हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् । ओ३म् खं ब्रह्म ॥२७॥

–यजु० ४०।२७॥

हिरण्मयपात्र (धूसरवर्णीय आज्ञा-कन्द) से सत्य का द्वार ढका हुआ है । उस सत्य-रूप आदित्य में वर्तमान जो पुरुष है, वह मैं परमात्मा हूं । ओ३म् नाम से वाच्य महत् पुरुष मैं ही सर्वत्र व्यापक ब्रह्म हूं ।

मधुमति समाधि

ओम् उप प्रक्षे मधुमति क्षियन्तः पुष्येम रयिं धीमहे त इन्द्र ॥२८॥

–साम० ४४४॥

व्युत्थान-वृत्तियों का क्षय हो चुका है । ऐसे मधुर भक्ति रस वाले चित्त में निवास करते हुए हम योगी जन, अनन्य योग-रूपी महाधन को परिपुष्ट करते हैं । इसलिए हे परमेश्वर ! हम आपका ही ध्यान करते रहते हैं ।

ओं प्र ते धारा मधुमतीरसृग्रन् वारं यत्पूतो अत्येष्यव्यम् ।
पवमान पवसे धाम गोनां जनयन्त्सूर्यमपिन्वो अर्कैः ॥२९॥

—साम० ५३४॥

हे उपासक ! तेरे चित्त में मधुर अर्थात् आनन्द-रसमयी धाराएं तब प्रवाहित होती हैं, जब तू पार्थिव भोगों के घेरे को लांघ जाता है और पवित्र हो जाता है । तब हे पवित्र करने वाले प्रभो ! आप इन्द्रियों के स्थानों को पूर्णतया पवित्र कर देते हैं और आध्यात्मिक सूर्य को प्रकट करते हुए, उस योगी को ज्योतिर्मयी किरणों से भरपूर कर देते हैं ।

प्रज्ञा-ज्योति

ओं प्रत्यु अदर्श्यायत्यू३च्छन्ती दुहिता दिवः ।
अपो मही वृणुते चक्षुषा तमो ज्योतिष्कृणोति सूनरी ॥३०॥

—साम० ३०३,७५१॥

आध्यात्मिक वृत्ति का मैंने प्रत्यक्ष दर्शन कर लिया है । प्रकाश फैलाती हुई ज्योतिष्मती वृत्ति, योग-साधना से प्रकाशित मेरे मस्तिष्क से प्रकट हुई है । महाशक्ति-रूप ज्योतिष्मती वृत्ति ने मुझे दिव्य चक्षु देकर मेरे अज्ञानान्धकार के पर्दे को हटा दिया है । इसने मुझ में विशाल ज्योति प्रकट कर दी है । यह ज्योति प्रियरूपा है ।

नादश्रवण एवं ज्योति-दर्शन

ओं शृण्वे वृष्टेरिव स्वनः पवमानस्य शुष्मिणः ।
चरन्ति विद्युतो दिवि ॥३१॥

—साम० ८९४॥

वर्षाकाल में आकाश में जैसे बिजलियां चमकती हुई विचरती हैं, और तब जैसे वृष्टि का शब्द सुनाई देता है, वैसे ही पवित्र करने वाले शक्तिशाली परमेश्वर का अनादि नाद मैं सुन रहा हूं । मेरा मस्तिष्क अन्तर्ज्योतियों से देदीप्यमान है ।

धर्ममेघ-समाधि

ओं स वर्धिता वर्धनः पूयमानः सोमो मीढ्वाँ अभि नो ज्योतिषावित् ।
यत्र नः पूर्वे पितरः पदज्ञाः स्वर्विदो अभिगा अद्रिमिष्णन् ॥३२॥

—साम० १३५९

वह सद्गुणों में बढ़ा चढ़ा है, हमें समृद्ध करता है । पवित्र करने वाला वह सोम सुखों की वर्षा करता है तथा अपनी ज्योति द्वारा हमारी सब प्रकार से रक्षा करता है । विभिन्न पदार्थों के ज्ञाता तथा सुख को प्राप्त किये हुए हमारी अनादि परम्परा के पितर-गण, उस परमेश्वर की प्रेरणा-रूप वाणियों तथा धर्ममेघ समाधि को साक्षात् करते हुए उस में विचरते हैं ।

ऋतम्भरा प्रज्ञा की प्राप्ति

ओं दूरादिहेव यत्सतोऽरुणप्सुरशिश्वितत् ।
वि भानुं विश्वथा तनत् ॥३३॥

—साम० २१९॥

जैसे दूर विद्यमान लालिमा-रंजित उषा का रंग-रूप इस पृथिवी पर चमकता है, वैसे ही हे परमेश्वर ! उषा के सदृश प्रकाशमान आप का प्रकाश हृदय में चमक उठता है । तब आप उपासक में ऋतम्भरा-प्रज्ञारूपी अथवा तारक-ज्ञानरूपी सूर्य को सब ओर फैला देते हैं ।

ओम् उत नो वाजसातये पवस्व बृहतीरिषः ।
द्युमदिन्दो सुवीर्यम् ॥३४॥

—साम० ११९०॥

हे प्रकाश-स्वरूप परमेश्वर ! आत्मिक बल की प्राप्ति के लिए आप हमारी महती इच्छाओं समाधि, ऋतम्भरा प्रज्ञा, विवेक-ज्ञान एवं मोक्ष आदि को सिद्ध कीजिए तथा चमकता हुआ यशोमय बल एवम् उत्साह हमें प्रदान कीजिए ।

ओम् एता उ त्या उषसः केतुमक्रत पूर्वे अर्धे रजसो भानुमञ्जते ।
निष्कृण्वाना आयुधानीव धृष्णवः प्रति गावोऽरुषीर्यन्ति मातरः ॥३५॥

—साम० १७५५॥

इन योग-प्रसिद्ध विवेक-ज्ञानमयी उषाओं ने निश्चय से मुझ में ऋतम्भरा प्रज्ञा उत्पन्न कर दी है । मेरे रजः-प्रधान राजसिक जीवन के पूर्वार्द्ध में ही इन उषाओं ने सतोगुण-रूपी सूर्य को अभिव्यक्त कर दिया है । जैसे वीर योद्धा युद्ध के साधन अस्त्र-शस्त्रों को निर्मल करते हैं, वैसे ही विवेकज ज्ञान की अरुणवर्णी चमकीली किरणें मेरी ओर गमनशील माता के सदृश नव-निर्माण करती हैं, मुझे निर्मल करती हुई मेरे प्रति प्रकट हुई हैं ।

ओं पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती ।
यज्ञं वष्टु धिया वसुः ॥३६॥

—यजु॰ २०।८४॥

हमें पवित्र करने वाली ऋतम्भरा प्रज्ञा पवित्र विज्ञानमय कोश की शक्तियों द्वारा ईश्वर के ज्ञान से संयुक्त हो ! इसकी प्रतिभा की विभूति हमारे योग-यज्ञ को सुशोभित करे !

ओं पवमान ऋतं बृहच्छुक्रं ज्योतिरजीजनत् । कृष्णा तमांसि जङ्घनत्॥३७॥

—ऋ॰ ९।६६।२४॥

सब को पवित्र करने वाला परमात्मा बहुत बड़े बलशाली प्राकृतिक नियमों के निर्मल ज्ञान-रूप प्रकाश (ऋतम्भरा प्रज्ञा) को पैदा करता है । यह सिद्धि घोर अन्धकार-रूप अज्ञान का नाश करती है ।

यथेष्ट बल-प्राप्ति

ओं स घा नो योग आ भुवत्स राये स पुरन्ध्या ।
गमद् वाजेभिरा स नः ॥३८॥

—साम॰ ७४२॥

वह परमेश्वर हमारे योग-साधनों, सिद्धियों तथा ध्यान-जनित प्रज्ञा-लोकों की प्राप्ति में हमारा सहायक हुआ है । वह बलों को प्रदान करता हुआ हमें प्राप्त होता है ।

हस्ति-बल की सिद्धि

ओं येन हस्ती वर्चसा संबभूव येन राजा मनुष्येष्वप्स्वन्तः ।
येन देवा देवतामग्र आयन् तेन मामद्य वर्चसाऽग्ने वर्चस्विनं कृणु ॥३९॥

—अथर्व॰ ३।२२।३॥

जिस बल पराक्रम से हस्ती जैसा महाकाय जन्तु सामर्थ्यवान् होता है; और प्रजाओं में व उनकी क्रियाओं में जिस तेज से राजा सामर्थ्यवान् होता है; और जिस वर्चस् से विद्वान् पुरुष या पृथिवी आदि दिव्य पदार्थ सृष्टि के आरम्भ में देवभाव को प्राप्त हुए, हे परमेश्वर ! उस वर्चस् से मुझ को वर्चस्वी बनाओ ।

दिव्य ऐश्वर्य-युक्त विभूतियां

ओम् एवा हि ते विभूतय ऊतयं इन्द्र मावते ।
सद्यश्चित् सन्ति दाशुषे ॥४०॥

—ऋ० १।८।९॥

हे जगदीश्वर ! आपकी कृपा से आपके उत्तम ऐश्वर्य और रक्षा-विज्ञानादि विभूतियां=योग-सिद्धियां मुझ को प्राप्त हैं । मेरी ही तरह सब के उपकार और योग-साधना-धर्म में 'मन का दान' करने वाले पुरुष को ये सिद्धियां शीघ्र प्राप्त होती हैं । [सिद्धियों की सद्यः-प्राप्ति के लिए योग-सूत्र के 'विभूति-पाद' में विविध तत्त्वों में संयम का विधान है । 'मन के दान' से हमारा संकेत उसी ओर है ।]

ईश्वरीय विभूति : वेदवाणी

ओं स्तोत्रं राधानां पते गिर्वाहो वीर यस्य ते ।
विभूतिरस्तु सूनृता ॥४१॥

—साम० १६००॥

हे आराधनाओं के स्वामिन् ! हमारी प्रार्थना-वाणियों को वहन करने वाले, विक्रम पराक्रमशाली ! आपका वैदिक स्तुति-समूह आपकी विभूति है । वह वाणी प्रिय और सत्य-स्वरूप है ।

गुप्त पदार्थों का उदय

ओम् उदिता यो निदिता वेदिता वस्वा यज्ञियो ववर्तति ।
दुष्टरा यस्य प्रवणे नोर्मयो धिया वाजं सिषासतः ॥४२॥

—ऋ० ८।१०३।११॥

ज्ञान प्रदाता परमेश्वर इस सृष्टि में निहित या तिरोहित पदार्थों को हमारे अन्तःकरण में उद्भूत होने पर बार-बार लौट-बदल कर रखता है । वह शुभ गुणों का आधान कराने वाली धारणावती प्रज्ञा के साथ-साथ बोध तथा अन्य विविध ऐश्वर्यों को पुनः-पुनः देना चाहता है । ज्ञानस्वरूप परमेश्वर की आच्छादक कृपाएँ भक्त पर ऐसे बरसती हैं, जैसे कि ढालू के तल पर पड़ने वाली जलधाराएं तेजी से नीचे आती हैं ।

स्वर्गिक सुख, दिव्य प्रकाश

**ओं युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे ।
स्वर्ग्याय शक्त्या ।।४३।।**

–यजु० ११।२।।

हे योग और पदार्थ-विद्या के जिज्ञासुओ ! हम योगी लोग योगाभ्यास से युक्त विज्ञानमय मन से और अपने योग-सामर्थ्य से सब के प्रकाशक, सकल जगत् के उत्पादक जगदीश्वर के ऐश्वर्य में मोक्ष सुख के साधनों की प्राप्ति के लिए आत्म-प्रकाश को धारण करते हैं । (वैसे ही तुम लोग भी धारण करो ।)

प्रगाढ़ मैत्री व कवित्व-शक्ति का उदय

**ओं पवस्व विश्वचर्षणेऽभि विश्वानि काव्या ।
सखा सखिभ्य ईड्यः ।।४४।।**

–ऋ० ९।६६।१।।

हे सर्वद्रष्टा परमात्मन् । सम्पूर्ण क्रान्तदर्शी कवियों के भाव को सब ओर से प्रदान करने के लिए पवित्र करें । मित्रों के लिए आप मित्र हैं और सर्वपूज्य हैं ।

भुवन-ज्ञान की सिद्धि

**ओं सप्त स्वसारो अभिमातरः शिशुं नवं जज्ञानं जेन्यं विपश्चितम् ।
अपां गन्धर्वं दिव्यं नृचक्षसं सोमं विश्वस्य भुवनस्य राजसे ।।४५।।**

–ऋ० ९।८६।३६।।

ज्ञानेन्द्रियों एवं मन-बुद्धि के द्वारा गति करने वाली इन्द्रियों की सात वृत्तियां जानने योग्य पदार्थों को प्रमाणित करती हैं । वे सर्वोपास्य परमात्मा को, जो नित्य-नूतन है और सर्वत्र-प्रत्यक्ष सब से बड़ा विज्ञानी है, उसको विषय बनाती हैं । जो परमात्मा जलों व पृथिवी आदि को धारण करने वाला है, उसकी उपासना सम्पूर्ण भुवनों के ज्ञान एवं राज्य के लिए साधक जन करते हैं ।

परकाया-प्रवेश

**ओं ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते ।
तेभिः स्वराळसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयस्व ।।४६।।**

–ऋ० १०।१५।१४।।

जो पितृजन अग्नि को जलाने वाले अर्थात् गृहस्थ या गृहमेधी हैं, जो अग्नि न जलाने वाले हैं अर्थात् गृहस्थ नहीं हैं, वे दोनों प्रकार के साधक परमेश्वर के ज्ञान में अपनी योग आदि शक्तिसहित विद्यमान होकर प्रसन्नता को प्राप्त करते हैं। उनके साथ शरीर में विद्यमान स्वयं प्रकाशमान अग्नि-'आत्मा' ऐसी प्राण-धारणा नीति को अपनाता है कि अपने आप योग-शक्ति से दूसरे शरीर में जाने के कार्य को पूर्ण करता है। अर्थात् शरीरान्तर में प्रवेश करने में समर्थ होता है।

शोभन रूप

ओं श्वेतं रूपं कृणुते यत् सिषासति सोमो मीढ्वँ असुरो वेद भूमनः।
धिया शमी सचते सेमभि प्रवद् दिवस्कवन्धमव दर्षदुद्रिणम् ॥४७॥

—ऋ० ९।७४।७॥

जब मनुष्य श्रद्धापूर्वक अनन्य भक्ति द्वारा सुखप्रद ऐश्वर्य को चाहता है, तब परमात्मा उसके लिए श्वेत-सात्त्विक रूप बनाता है। प्राणों का स्वामी परमात्मा सब लोक-लोकान्तरों को जानता है। वह इस उपासक को ब्रह्म-विषयक बुद्धि से संगत करता है। वही द्युलोक से बहुत जल वाली वृष्टि को उत्पन्न करता है।

आत्म-तत्त्व का : साक्षात्कार

ओं रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रति चक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश ॥४८॥

—ऋ० ६।४७।१८॥

विविध ऐश्वर्यवान् आत्मतत्त्व जैसे-जैसे रूप में जाता है, वैसा-वैसा रूप धारण करता है; कहने के लिए वही उसका रूप हो जाता है। अपनी बुद्धि आदि प्राकृतिक शक्तियों के कारण वह अनेक प्रकार के रूपों में पाया जाता है। इस प्रकार इस अन्तःकरण की व प्राण की हजारों शक्तियां नियोजित होती हैं।

ब्रह्मचारी-साधक की विभूतियां

ओं तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत् तप्यमानः समुद्रे। स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते ॥४९॥

—अथर्व० ११।५।२६॥

तपश्चर्या करता हुआ ब्रह्मचारी-योगी स्थिर जल की पीठ पर और समुद्र की चंचल लहर पर भी स्थित होने में जब समर्थ हो जाता है, तब उन (ऊपर मन्त्र २४-२५ में कथित) प्राण-अपान आदि तत्त्वों व शरीराङ्गों को सामर्थ्यवान् कर देता है। योग विद्या में निष्णात होकर वह ब्रह्मचारी सब को पुष्ट होने की प्रेरणा देता हुआ ललिमा-युक्त तेजस्वी शरीर वाला इस पृथ्वी पर बहुत सुशोभित होता है।

प्रकाश का उदय

ओं तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्।
पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतᳶ
शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतम्
अदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥५०॥

—यजु० ३६।२४॥

दिव्य शक्तियों द्वारा स्थापित वह प्रकाश-पुञ्ज-रूप तृतीय-नेत्र, अन्तश्चक्षु हमारे सम्मुख उदित हो गया है। उसके आलोक में हम सौ वर्ष तक सही देखें, ठीक से जीएं, अच्छा सुनें, उत्तम वार्तालाप करें, सदा दैन्य-रहित रहें। और सौ वर्ष से भी अधिक ऐसे ही श्रेष्ठ बने रहें।

आत्म-साक्षात्कार का प्रारम्भ

ओं न विजानामि यदि वेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद् वाचो अश्नुवे भागमस्याः॥५१॥

—ऋ० १।१६४।३७॥

जो कुछ जैसा यह मैं हूं ऐसा मैं विशेष रूप से नहीं जानता हूं। मूढ़ सा भोला मैं मन से बंधा हुआ जकड़ा हुआ विचर रहा हूं। जब मुझ को ऋत का मूल प्राकृतिक सत्यज्ञान का प्रथमोत्पादक प्रभु प्राप्त होता है, तब ही इस वाणी के भजनीय वाच्य को प्राप्त करता हूं।

वेदज्ञ योगी आत्म-साक्षात्कार करता है

ओम् अया रुचा हरिण्या पुनानो विश्वा द्वेषांसि तरति सयुग्वभिः सूरो न सयुग्वभिः। धारा पृष्ठस्य रोचते पुनानो अरुषो हरिः। विश्वा यद्रूपा परियास्यृक्वभिः सप्तास्येभिर्ऋक्वभिः॥५२॥ —साम० ४६३॥

योग-साधनों से सम्पन्न उपासक, परमैश्वर्य-दीप्ति द्वारा अपने को पवित्र करता हुआ अपनी प्रज्ञान-किरणों से सब प्रकार की द्वेष-भावनाओं से वैसे ही तर जाता है, जैसे सूर्य अपनी रश्मियों से अपने शत्रु-रूप अन्धकार को दूर करता है। प्रकाश-धारा बढ़ने पर और अधिक पवित्र बनकर सभी दुर्गुणों से दूर होकर योग-साधना से इन्द्रिय-गण तथा मन पर विजय पा लेता है। वह वेदों की सप्तमुखी ऋचाओं द्वारा परमेश्वर के सब स्वरूपों को जानकर ध्यान-समाधि द्वारा साक्षात्कार कर लेता है। [ऋचाओं के सात मुख कौन से हैं ? यह अन्वेष्टव्य है। फिर भी, संभवतः, इन्हें 'ऋषि, देवता, छन्द, स्वर, पद-पाठ, यौगिक-पदार्थ, और भावार्थ, इन सात रूपों में भी देखा जा सकता है।]

योगी को ईश्वर का आश्वासन

ओं स्वाङ्कृतोऽसि विश्वेभ्यऽइन्द्रियेभ्यो पार्थिवेभ्यो मनस्त्वाष्टु स्वाहा।
त्वा सुभव सूर्याय देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्यऽउदानाय त्वा ॥५३॥

—यजु० ७।६॥

परमात्मा का योगी को उपदेश :— हे ऐश्वर्यर्ययुक्त योगी ! तू अनादि काल से सिद्ध है। तू आत्मरूप शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव है। भौतिक पदार्थों से सम्बद्ध समस्त इन्द्रियों से हटकर समाधिस्थ तेरा मन सत्य-अनुष्ठान करने की क्रिया से युक्त होकर सूर्य के समान प्रकाश करने एवम् उत्कृष्ट जीवन के लिए हो। तू योग के प्रकाश से युक्त दिव्य-गुण-सम्पन्न विद्वानों के लिए तेरा व्यवहार युक्ति-युक्त हो। विभूतियां पाकर तुझ में अहंकार न आये।

योगी को ईश-भक्ति का आनन्द मिलता है

ओम् आ त्वा सहस्रमा शतं युक्ता रथे हिरण्यये।
ब्रह्मयुजो हरय इन्द्र केशिनो वहन्तु सोमपीतये ॥५४॥

—साम० २५४॥

जैसे हजारों लाखों सूर्य-किरणें सुवर्ण के समान सूर्य-रथ में जुड़ी होकर उसका वहन करती हैं, ऐसे ही ब्रह्म के साथ योग-विधि से जुड़े, योग-साधनों से सम्पन्न एवं योगज ज्ञान-प्रकाश में सूर्य-किरणों के समान प्रकाशमान उपासक ही हे परमेश्वर ! आपका आह्वान करते हैं। हे दयालो ! उन्हें भक्ति-रस का दान देकर आप आनन्दित करते हैं।

सिद्धियों का आनन्द

ओम् अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधाम्यन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम् ।
सजूर्देवेभिरवरैः परैश्चान्तर्यामे मघवन् मादयस्व ॥५५॥

—यजु० ७।५॥

ईश्वर द्वारा योगी साधक के लिए यह निर्देश है :– "तेरे अन्तःकरण में मैंने द्युलोक पृथिवी-लोक एवं विशाल अन्तरिक्ष के ज्ञान-विज्ञान का सार-तत्त्व स्थापित कर दिया है । हे योगैश्वर्य-सम्पन्न योगी ! तुम योग-नियमों के अनुसार अपने अन्तःकरण में संयम करके साधारण कोटि के और उत्तम कोटि के मित्रों व दिव्य जनों के साथ आनन्द का संवर्धन करो ।" [इस मन्त्र में **'यत्पिण्डे-तद् ब्रह्माण्डे'** का स्पष्ट समर्थन हो रहा है ।]

विभूतियां शारीरिक व आत्मिक बल देती हैं

ओम् आयत् पतन्त्येन्यः सुदुघा अनपस्फुरः ।
अपस्फुरं गृभायत सोममिन्द्राय पातवे ॥५६॥

—अथर्व० २०।९२।७॥

जब सुगमता से स्फुरित हो सुष्ठु फल प्रदान करने वाली शारीरिक-आत्मिक बल की साधना-भूत क्रियाएं साधक के अन्तःकरण को प्रभावित कर उस में उपस्थित हो जाती हैं; तब वे ऐश्वर्य-साधक जीवात्मा के उपभोग के लिए चंचलता-रहित शान्त क्रियाओं द्वारा निष्पादित शारीरिक व आत्मिक बल को प्राप्त कराती हैं ।

योग-विभूति

ओं रेवतीर्नः सधमाद इन्द्रे सन्तु तुविवाजाः ।
क्षुमन्तो याभिर्मदेम ॥५७॥

—साम० १५३॥

हमारी योग-विभूतियां सहभागी के लिए सदा आनन्द से परिपूर्ण परमेश्वर को समर्पित करके प्रभूत-शक्ति-सम्पन्न बनें, जिससे हम विविध प्रकार के प्रशस्त भोग-सम्पन्न होकर सदा आनन्द में रहें ।

□□□



आनन्दमय कोश : मोक्ष

प्रकाश से घिरा आनन्दमय कोश इसी शरीर में स्थित है

ओ३म् अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥१॥

—अथर्व॰ १०।२।३१॥

आत्मा के नेत्रादि उपकरण रूप देवों की यह शरीर रूप अजेय नगरी हैं। इसमें मूलाधार, स्वाधिष्ठान, नाभि (मणिपूर), सूर्य, हृदय (अनाहत), कण्ठ (विशुद्धि), आज्ञा (भ्रूमध्य), सहस्रार ये आठ चक्र हैं। मुख, नासिका के दो छिद्र, दो आंखें, दो कान, मूत्रेन्द्रिय तथा गुदा द्वार, ये नौ द्वार हैं। इसमें भौतिक रमणीय सुवर्ण आभा के सदृश अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, एवम् आनन्दमय कोश हैं। पञ्चभूतों के ज्योतिर्मय आवरण से घिरा हुआ जीवात्मा सुख-विशेष की अनुभूति करता हुआ आनन्दमय कोश में निवास करता है।

शरीरस्थ आत्मा का ज्ञान पाना है

ओं पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम् ।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ॥२॥

—अथर्व॰ १०।८।४३॥

यह शरीर कमल पुष्प के समान है। इस में नवद्वार हैं। सत्त्व, रजस्, तमस् तीनों गुणों से घिरा हुआ है। इन सभी का नियमन करने वाला प्रकाशशील व प्रकाशस्वरूप आत्मा इसमें साक्षी रूप से स्थित है। इस आत्मा को ब्रह्मज्ञानी विशेष योगविधि से जान लेते हैं।

मुक्ति की प्रार्थना कौन करता है ? अर्थात् इस प्रार्थना का अधिकारी कौन है ?

ओं वयः सुपर्णा उपसेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः ।
अप ध्वान्तमूर्णुहि पूर्धि चक्षुर्मुमुग्ध्या३ऽस्मान्निधयेव बद्धान् ।।३।।

—साम० ३१९।।

उड़ते हुए उत्तम पंखों वाले पक्षियों के समान समाधि-अवस्था में उच्च स्थितियों में पहुंचे हुए उपासना-यज्ञ में बुद्धि एवं श्रद्धा रखने वाले ऋषि-कोटि के उपासक प्रार्थना करते हुए उस परम ऐश्वर्यवान् का सामीप्य अनुभव करते हैं। वे याचना करते हैं –"हे परमेश्वर ! हमारे अज्ञान-अन्धकार को हटा दीजिए, हमारी आध्यात्मिक दृष्टि को पूर्ण कीजिए और मोह के बन्धनों से बंधे हुए हम को मुक्त कीजिए ।"

मोक्ष=मृत्यु-बन्धन से मुक्ति

ओं त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ।।४।।

—ऋ० ७।५९।१२।।

तीनों कालों में, जीव, कारण व कार्यों इन तीनों के रक्षक सुविस्तृत पुण्य-कीर्ति वाले, पुष्टि बढ़ाने वाले परमेश्वर को हम लोग उपासना द्वारा उत्तम प्रकार प्राप्त होवें। हम मृत्यु-बन्धन से ककड़ी-खरबूजा फल के सदृश छूट जायें, परन्तु अमृतत्व से नहीं ।

मोक्ष-हेतु सब ऋणों से उऋण होना है

ओम् अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम ।
ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् पथो अनृणा आक्षियेम ।।५।।

—अथर्व० ६।११७।३।।

हम इस लोक में– वर्तमान जन्म में, परलोक में– पुनर्जन्म में, और तीसरे लोक– मोक्ष में भी ऋणरहित होकर पहुंचें। देवयान=ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ व संन्यास आश्रम में तथा पितृयाण=गृहस्थाश्रम में रहते हुए सभी तरह के जीवन-पथ पर उऋण होकर ही जीवन बितायें ।

तीनों बन्धनों से मुक्त होकर अखण्ड मोक्ष मिलता है

ओम् उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय ।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम ।।६।।

—ऋ० १।२४।२५।।

हे वरण करने योग्य ईश्वर ! आप हम योगाभ्यासियों के उत्तम, मध्यम और अधम तीनों प्रकार के बन्धनों को शिथिल कीजिए । 'कारण', 'सूक्ष्म' एवं 'स्थूल' शरीर के इन तीन बन्धनों से मुक्त होकर शुद्ध पवित्र निष्पाप हम, हे अविनाशी प्रभु ! तेरे अखण्डनीय व्रत को धारण करते हुए अखण्ड मोक्ष-सुख के लिए समर्थ हों । [देवमाता 'अदिति'='अखण्डनीय मूल-प्रकृति', अपने व्यक्त रूप में बांधने वाली यह प्रकृति ही अव्यक्त रूप में अन्तस्तत्त्वज्ञ के लिए मोक्षद है ।]

ईश्वर-ज्ञान द्वारा मृत्युभय का अभाव

ओम् अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ।।७।।

—अथर्व० १०।८।४४।।

वह कामना से रहित, धीर (प्रज्ञावान्) अविनाशी अपनी सत्ता से सामर्थ्यवान् और आनन्द रस से तृप्त है । किसी दृष्टि से न्यून नहीं है । उस धैर्यवान् अजर-अमर, चिरयुवा, नित्य आत्मा को निरन्तर जानता हुआ विद्वान् योगी मौत से नहीं डरता ।

ईश्वर-ज्ञान से ही मुक्ति

ओं वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाऽअति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।।८।।

—यजु०३१।१८।।

जीवन्मुक्त, स्वरूपस्थ योगी ईश्वर की प्रत्यक्ष अनुभूति करके बता रहा है—''आदित्य के समान प्रकाशमान और अविद्या-अन्धकार से नितान्त पृथक् उस महान् परम पुरुष को मैंने जाना है । अनुभव-सिद्ध ज्ञान-संवेदन प्राप्त करके ही अमृतत्व को पाया जाता है । मोक्ष-प्राप्ति का इस से भिन्न और कोई मार्ग है ही नहीं ।''

ब्रह्म-साक्षात्कार की स्थिति

ओम् अयमस्मि जरितः पश्य मेह विश्वा जातान्यभ्यस्मि मह्ना ।
ऋतस्य मा प्रदिशो वर्धयन्त्यादर्दिरो भुवना दर्दरीमि ॥९॥

—ऋ० ८।१००।४॥

ईश्वर योगी को आश्वस्त करता है :– हे मुमुक्षु श्रोता ! यह मैं प्रत्यक्ष ही तुम्हारे सम्मुख हूं, मुझे देखो, अनुभव करो । अपनी महिमा से मैं सृष्टि के सभी ज्ञात और अज्ञात पदार्थों को वश में रखता हूं । यथार्थ ज्ञान के उपदेष्टा गुरुजन मेरे महत्त्व को बढ़ाते हैं । मैं प्रलयंकर सभी लोकों को यथासमय विदीर्ण किया करता हूं । [मुमुक्षु के लिए यह ईश्वर का भयंकर रौद्र-रूप है ।]

मोक्ष-पद में मधु का झरना

ओं तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति ।
उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः ॥१०॥

—ऋ० १।१५४।५॥

दिव्य भोगों की कामना करने वाले दिव्य-शक्ति-सम्पन्न अग्रणी सिद्ध साधक-जन जहां आनन्द पाते हैं, उस अत्यन्त पराक्रमी के प्रसन्नता देने वाले मार्ग पर मैं भी आरूढ़ हो जाऊं । इस प्रकार वह व्यापक परमेश्वर ही मेरा बन्धु हो । उसके उस प्राप्तव्य, लक्ष्यभूत मोक्ष-पद में मधुर रसों का स्रोत निहित है । [मुमुक्षु के लिए ईश्वर का यह आकर्षक प्रिय रूप है ।]

मोक्ष-पद में प्रकाश और आनन्द

ओं यत्र ज्योतिरजस्त्रं यस्मिंल्लोके स्वर्हितम् ।
तस्मिन् मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परि स्त्रव ॥११॥

—ऋ० ९।११३।७॥

जहां निरन्तर ज्योति का प्रकाश है, जिस लोक में केवल सुख ही सुख बना रहता है, उस अमृत लोक में जहां न वृद्धि है न क्षय, हे पावन परमेश्वर ! मुझे स्थापित करो । ऐसा इन्द्रियजयी योगी बनाने के लिए हे सौम्य प्रभु ! आप मुझ पर अपनी कृपा की वर्षा करें ।

ओं यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते ।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्त्रव ॥१२॥

—ऋ० ९।११३।११॥

जहां सदा आनंन्द और आह्लाद है, जहां हर्षित और प्रफुल्ल मुक्त पुरुष सदा विचरण करते हैं और जहां कामना करने वाले की सभी कामनाएं सम्पन्न होती हैं उस परम पद पर मुझे अमर बनाइए । ऐसा ज्ञान-योग-ऐश्वर्य-युक्त सिद्ध बनाने के लिए हे शान्त-प्रकाश स्वरूप देव ! आप मुझ पर अपनी कृपा बरसाएं ।

सर्वत्र स्थित मोक्ष-पद

ओं तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततम् ॥१३॥

—ऋ० १।२२।२०॥

कण-कण में व्याप्त, सर्वत्र विस्तृत विष्णु के उसं सर्वोच्च स्थान मोक्ष-पद को सूक्ष्मदर्शी सूरी-जन, सदा सर्वत्र वैसे ही देखा करते हैं, जैसे सूर्य के प्रकाश में विस्तृत-दृष्टि प्रकाशित पदार्थों की चारों ओर फैली आकृतियों को स्पष्ट देखती हैं । [विष्णु का स्थान विष्णु के समान ही व्यापक हो यह स्वाभाविक ही है ।]

ईश्वर की सतत उपस्थिति का अनुभव ही मोक्ष है

ओं यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभि स्वरन्ति ।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश ॥१४॥

—ऋ० १।१६४।२१॥

उस विज्ञानमय परमेश्वर में शोभन कर्म वाले जीव, मोक्ष के सेवन योग्य अंश को निरन्तर अपने सम्मुख प्रत्यक्ष करते हैं । उसी परमेश्वर में समग्र लोक-लोकान्तर को पालने वाले सूर्य नक्षत्र आदि प्रलय-काल में प्रवेश करते हैं, अर्थात् लय को प्राप्त होते हैं । वह धीर-पुरुष परमेश्वर परिपक्व व्यवहार वाले मुझमें भी सदा विद्यमान है ।

मोक्ष-धाम ईश्वर ही है, अन्य कुछ नहीं

ओं स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥१५॥

—यजु० ३२।१०॥

हे मनुष्यो ! जिस जीव व प्रकृति से विलक्षण, तीसरे धाम, आधार भूत जगदीश्वर में मोक्ष-सुख को प्राप्त करते हुए विद्वान् लोग सर्वत्र स्वेच्छापूर्वक विचरते हैं, और जो सब लोक-लोकान्तरों व नामों को जानता है, वह हमारा भ्राता के समान माननीय सहायक है, उत्पन्न-कर्ता और विधाता है ।

मोक्ष : परमात्मा का स्वरूप

ओं शुचिः पुनानस् तन्वमरेपसमव्ये हरिर्न्यधाविष्ट सानवि ।
जुष्टो मित्राय वरुणाय वायवे त्रिधातु मधु क्रियते सुकर्मभिः ॥१६॥

—ऋ० ९।७०।८॥

योगमय सुन्दर कर्मों से शरीर निष्पाप विकार-रहित, सुसंस्कृत और निर्दोष, निर्मल बना लेने पर साधक सर्वनाशक, पवित्रतम एवं परमप्रीति से सेवनीय सर्वरक्षक परमात्मा के स्वरूप में स्थिर होता है ।

निस्स्वार्थ दाता के लिए परमात्म-भाव एवं मोक्ष

ओं तं होतारमध्वरस्य प्रचेतसं वह्निं देवा अकृण्वत ।
दधाति रत्नं विधते सुवीर्यमग्निर्जनाय दाशुषे ॥१७॥

—साम० १५१४॥

सब के दाता, यज्ञीय कर्मों को जानने व जनाने वाले, संसार के भार का वरण करने वाले उस परमेश्वर को दिव्य उपासक अपना लेते हैं । प्रकाश-स्वरूप, ज्ञानमय वह परमात्मा दानी वृत्ति वाले, अपरिग्रही उपासक-जन के लिए उत्तम सामर्थ्य देने वाले मोक्ष-रूपी रत्न को धारण करता है ।

योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे ।
सखाय इन्द्रमूतये ॥

—ऋ० १।३०।७, यजु० ११।१४, अथर्व० १८।२४।७

"योग की प्रत्येक अवस्था में वही तीव्रता से पार उतार कर आगे ले जाता है । आओ हे साधक-सखाओ ! उस सर्वाधिक ऐश्वर्यशाली परमेश्वर को ही समग्र संवर्धन एवं रक्षा हेतु पुकारें !"

जो अविनाशी तत्त्व को जान ले वही मुक्त है

ओम् ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥१९॥

—ऋ० १।१६४।३९॥

उस अविनाशी परम व्योम (महान्-आकाश-रूप) व्यापक परमेश्वर में ऋचाओं का सनातन ज्ञान स्थित है। उसी सर्वव्यापक में सूर्य-नक्षत्र आदि दिव्य शक्तियां ठहरी हुई हैं। इस मौलिक सत्य को जो नहीं जानता, उसके लिए ऋग्वेद आदि चारों वेदों का ज्ञान भी क्या कर सकता है ? और जो इस सत्य को जानते हैं, वे ही इन दिव्य शक्तियों का सदुपयोग कर पाते हैं; और मुक्तावस्था में सर्वत्र, सर्वदा, सर्वथा सब से सामञ्जस्य स्थापित कर लेते हैं।

वह पवित्रतम प्रभु पवित्र धन =मोक्ष का प्रदाता है

ओम् इन्द्र शुद्धो हि नो रयिं शुद्धो रत्नानि दाशुषे।
शुद्धो वृत्राणि जिघ्नसे शुद्धो वाजं सिषाससि ॥२०॥

—ऋ० ८।९५।९॥

हे परमेश्वर ! आप निश्चय परम पवित्र हैं। हमें आपकी कृपा से पवित्र मोक्ष-धन प्राप्त हो। समर्पित साधक को आप पवित्र रूप में ही विविध रमणीय पदार्थ तथा अन्न-बल प्रदान किया करते हैं। आप अपने पवित्र स्वरूप द्वारा ही हमारी विघ्न-बाधाओं व योग के अन्तरायों को नष्ट किया करते हैं।

योग-साधक मुक्ति के लिए उसी का आह्वान करे

ओं कदाचन प्रयुच्छस्युभे नि पासि जन्मनी।
तुरीयादित्य हवनं त इन्द्रियमातस्थावमृतं दिवि॥२१॥

—ऋ० ८।५२।७॥

आप अपने कर्तव्य में कभी प्रमाद नहीं करते। अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के जीवों की रक्षा का अथवा इस जन्म व अग्रिम जन्म की सार्थकता का आप पूरा ध्यान रखते हैं। हे परम-कारण अविनाशी आदित्य-परमेश्वर ! ज्ञान के प्रकाश पर आधारित और जितेन्द्रिय साधक द्वारा किया गया आपका आह्वान उसे अमर-पद पर स्थापित करता है।

पवित्र परमात्मा ही वर्चस्वी मोक्ष का ऐश्वर्य देंगे

ओं पवमान विदा रयिमस्मभ्यं सोम सुश्रियम् ।
इन्दो सहस्रवर्चसम् ॥२२॥

—ऋ० ९।४३।४॥

हे सब को पवित्र करने वाले हे प्रकाशमान सौम्य स्वभाव वाले परमात्मन्! हमारे लिए अनेक प्रकार से देदीप्यमान और सुन्दर शोभायमान सहस्र-असंख्य ब्रह्म-वर्चस् युक्त मोक्ष को, ऐश्वर्य को प्राप्त कराइये ।

निष्काम कर्म मोक्ष का, जीवन्मुक्ति का मार्ग

ओं कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतः समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२३॥

—यजु० ४०।२॥

इस संसार में कर्मों को करते हुए सौ वर्ष तक जीने की इच्छा रखे । निष्काम कर्म ही करता चला जाए । इस प्रकार तेरे लिए अन्य कोई मार्ग नहीं है । ऐसे निष्काम कर्म करने वाले को कर्म नहीं बांधता । वह मुक्त होता है ।

सांसारिक ज्ञान और आत्मविद्या दोनों के समन्वय से ही अमर पद मिलता है

ओं विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयः सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥२४॥

—यजु० ४०।१४॥

अध्यात्म-विद्या और भौतिक-विद्या इन दोनों को जो एक साथ जानता है, वह शरीर आदि जड़ के ज्ञान से मरण-पीड़ा और भय को पार करके चेतन तत्त्व की आत्म-दर्शन-विद्या से अमर पद परमात्म-तत्त्व के आनन्द का अनुभव करता है । ['विद्लृ=लाभे' से निष्पन्न 'विद्या' का अर्थ 'अनुभूति जन्य साक्षात्कृत ज्ञान' होता है । इसके विपरीत 'अन्य-दत्त, शब्द आदि से गृहीत, पारम्परिक ज्ञान' को 'अविद्या' कहा जा सकता है । ये दोनों क्रमशः 'ज्ञान' और 'कर्म' भी माने गये हैं । इस प्रकार, विरोधी तत्त्वों में सामञ्जस्य यहां अभीष्ट है ।]

मुक्ति के लिए कर्म, उपासना एवं ज्ञान का समन्वय

ओं य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात् ।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश ॥२५॥

—ऋ० १।१६४।३२॥

जो जीव यहां केवल क्रिया करता रहता है वह अपने मूल स्वरूप को नहीं जान पाता । जो समस्त क्रियाओं को केवल देखता रहता है, करता नहीं, उससे भी यह उपासितव्य ईश्वर पृथक् ही रहता है । दोनों तरह से जीव माता के गर्भाशय के बीच सब ओर से ढका हुआ, बहुत बार जन्म लेने वाला अत्यन्त पीड़ा को ही प्राप्त करता है । [अर्थात् जन्म मरण के चक्र से छूटता नहीं है । जब तक ज्ञान व कर्म दोनों का समन्वय कर उपासना नहीं करता कोई मुक्त नहीं होता ।]

समन्वित ज्ञान-कर्म से हृदयस्थ आत्म-तत्त्व का ज्ञान

ओं सं दक्षेण मनसा जायते कविर्ऋतस्य गर्भो निहितो यमा परः।
यूना ह सन्ता प्रथमं वि जज्ञतुर्गुहा-हितं जनिम नेममुद्यतम् ॥२६॥

—ऋ० ९।६८।५॥

समाहित मन से सच्चाई का कथन करने वाला कर्मयोगी क्रान्तदर्शी होता है । दैव ने उसे सर्वोपरि सुरक्षित गर्भस्थानीय बनाया है । कर्मयोग तथा ज्ञानयोग को पूर्ण करते हुए ये योगी अन्तःकरण-रूपी गुहा में निहित उस परमात्मा को सब से पहले जानते हैं, जो परमात्मा सब की उत्पत्ति का स्थान, नियामक और सर्वोपरि बलस्वरूप है ।

समग्र-योग द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार

ओम् इन्दुं रिहन्ति महिषा अदब्धाः पदे रेभन्ति कवयो न गृध्राः।
हिन्वन्ति धीरा दशभिः क्षिपाभिः समञ्जते रूपमपां रसेन ॥२७॥

—ऋ० ९।९७।५७॥

बुराइयों से न दबने वाले दृढ़प्रतिज्ञ, सद्गुणी महापुरुष ऐश्वर्यशाली परमात्मा को प्राप्त होते हैं । क्रान्तदर्शी विद्वान् ज्ञान की गोष्ठियों में शब्दों द्वारा सुशोभित होते हैं, लोभी लालची नहीं । दश प्राणों की नियमित गति द्वारा धीर पुरुष शक्ति-सम्पन्न होते हैं । सत्क्रियाओं के परिपाक से ये साधक परमेश्वर के स्वरूप का

साक्षात्कार करते हैं। [यहां कर्म, ज्ञान एवं अष्टांग योग तीनों का समन्वय करने वाले साधकों द्वारा आत्म-साक्षात्कार की बात कही गयी है।]

जीवन्मुक्त योगी की स्थिति

ओं न वा उ एतन्म्रियसे न रिष्यसि देवाँ इदेषि पथिभिः सुगेभिः।
हरी ते युञ्जा पृषती अभूतामुपास्थाद् वाजी धुरी रासभस्य ॥२८॥

—ऋ० १।१६२।२१॥

हे विद्वान् योगी! तुम इस संसार में न तो कभी मरोगे और न कभी क्षोभ को प्राप्त होओगे। मुक्त योगी दिव्य पुरुषों के पास छलकपट-रहित सत्य के सरल-सुगम मार्गों से पहुंचो। इस लक्ष्य के लिए तुम्हारे धारण और आकर्षण गुण वाले आत्मा और मन, योग-युक्त होकर जल के समान सुख-शान्ति को जीवन में सतत सींचने वाले बनें। जब तुम शब्दों का प्रयोग करो तब तुम्हारी वाणी का वेग अपने विषय के केन्द्र में रहे।

जीवन्मुक्त योग के आनन्द से युक्त और पवित्र होता है

ओं सिञ्चन्ति परिषिञ्चन्त्युत्सिञ्चन्ति पुनन्ति च।
सुरायै बभ्र्वै मदे किन्त्वो वदति किन्त्वः ॥२९॥

—यजु० २०।२८॥

श्रेष्ठ साधक सौम्य ज्ञान के प्रकाश एवम् आनन्द को पाने के लिए ईश्वर-भक्तिरूप औषधि के रस को अपने अन्तःकरण में सब ओर से बार-बार और भली भांति सींचते हैं, और स्वयं को नितान्त पवित्र बना लेते हैं। दूसरी ओर, शंकालु मूढ़ जन "यह क्या है? यह क्या है?" ऐसा संशय ही करता रहता है। इस प्रकार क्रियात्मक योगमय जीवन से वंचित व्यक्ति कुछ भी प्राप्त नहीं करता।

मोक्ष की कामना

ओं यमोदनं प्रथमजा ऋतस्य प्रजापतिस्तपसा ब्रह्मणेऽपचत्।
यो लोकानां विधृतिर् नाभिरेषात् तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥३०॥

—अथर्व० ४।३५।१॥

व्यापक प्राण-शक्ति को आदि सृष्टि के शाश्वत नियमों ने तथा प्रजापति

परमात्मा ने तप द्वारा ब्रह्म-ज्ञान के लिए परिपक्व किया। वही समस्त लोकों का आधार है। प्राण-शक्ति मुझ में नष्ट न हो! उसी प्राणशक्ति से मैं मृत्यु का अतिक्रमण कर भवसागर से पार हो जाऊं, जन्म मृत्यु के बन्धन से छूट जाऊं!

क्रमशः मुझे मोक्ष सुख मिला है

ओं पृथिव्याहमुदन्तरिक्षमारुहम् अन्तरिक्षाद्दिवमारुहम्।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम् ॥३१॥

—यजु० १७।६७॥

हे प्रभो! आपकी दया से मैंने योगाङ्गों के अनुष्ठान एवं संयम से सिद्ध योगी बनकर पृथिवी से आकाश में आरोहण किया। आकाश से प्रकाशमान सूर्य में आरोहण किया। और, सुखकारी प्रकाशमान द्युलोक के समीप से अनन्त सुख और ज्ञान-प्रकाश को मैंने प्राप्त किया है।

मोक्ष के लिए व्रतपूर्वक तप

ओं येन देवाः स्वरारुरुहुर् हित्वा शरीरममृतस्य नाभिम्।
तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं धर्मस्य व्रतेन तपसा यशस्यवः ॥३२॥

—अथर्व० ४।११।६॥

दिव्य गुण सम्पन्न योगी-जन संसार रूपी गाड़ी को खींचने वाले परमात्मा (**अनड्वान दाधार पृथिवीमुत द्याम्**—अथर्व०४।११।१।) की कृपा से शरीर के सुख को छोड़कर अमृतमय मोक्ष के द्वार-रूप सात्त्विक सुख की स्थिति पर आरूढ़ हुए थे। उसी महान् प्रभु के प्रति समर्पित-भाव-रूप धर्म के ईश्वर-प्रणिधान-व्रत द्वारा और तपश्चर्या करते हुए हम यशस्वी होकर सुकर्मों के लोक मोक्ष-धाम को प्राप्त होवें।

ईश्वर का आश्वासन – मुझ से मोक्ष-धन मांगो

ओम् अहमिन्द्रो न पराजिग्य इद्धनं न मृत्यवेऽवतस्थे कदाचन।
सोममिन्मा सुन्वन्तो याचता वसु न मे पूरवः सख्ये रिषाथन ॥३३॥

—ऋ० १०।४८।५॥

हे मनुष्यो! मैं ऐश्वर्यवान् तथा अमर हूं। मैं किसी से पराजित नहीं होता। मेरा वैभव कभी भी मृत्यु के लिए नहीं रहता, अर्थात् कभी नष्ट नहीं

होता । तुम सब उपासना-रस का निष्पादन करते हुए मुझ से मुक्ति-धन की याचना करो । मेरी मित्रता से तुम कभी पीड़ित नहीं रहोगे ।

मुक्त और मुमुक्षु को ईश्वर का आश्वासन

ओं युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर् विश्लोक एतु पथ्येव सूरेः ।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ।।३४।।

—यजु० ११।५।।

योग-साधना करने वाले साधक और सिद्ध दोनों को मैं उस ब्रह्म से संयुक्त करता हूं, जिसे पूर्व-योगियों ने प्रत्यक्ष किया था । नमस्कार और श्रद्धा वचनों के साथ सत्य वाणी तुम्हें मिले, जैसे श्रेष्ठ विद्वानों को उत्तम ज्ञान प्राप्त होता है । ईश्वर की इस आश्वासन भरी वाणी को दिव्य धामों में, सुख के प्रकाश-युक्त स्थानों में पहुंचे हुए सभी अमृत-पुत्र, मुमुक्षु और मुक्त सुन लें !

जीवन्मुक्त का मोक्षमार्ग

ओम् ईजानश्चितमारुक्षदग्निं नाकस्य पृष्ठाद् दिवमुत्पतिष्यन् ।
तस्मै प्र भाति नभसो ज्योतिषीमान्त्स्वर्गः पन्थाः सुकृते देवयानः ।।३५।।

—अथर्व० १८।४।१४।।

सर्वहुत ('प्राजापत्य') यज्ञ को करने वाला जीवन्मुक्त जब चिता की अग्नि पर आरोहण करता है, तब उसकी आत्मा मुक्ति-सुख के स्पर्श से द्योतमान परमेश्वर की ओर उत्क्रमण करती है । उस सुकर्मी आत्मा को अब तक पूर्णतया न भासने वाला, परमेश्वर तक ले जाने वाला सुखकर मार्ग प्रभासित हो जाता है ।

आनन्द जीवन्मुक्ति का

ओम् अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान् ।
किं नूनमस्मान् कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य ।।३६।।

—ऋ० ८।४८।३।।

हे सर्वश्रेष्ठ रसमय ईश-भक्ति ! तुम को पाकर हम अमृत हो जाएं । शरीर शक्ति या परमात्म ज़्योति को प्राप्त होवें । ऐसी अवस्था में हमारा आन्तरिक शत्रु क्या करेगा ? हे मरण-रहित देव ! मरणशील हिंसक व्यक्ति की धूर्त्तता भी मेरा क्या बिगाड़ेगी !

भक्ति से जीवन्मुक्ति का आनन्द

ओं शं नो भव हृद आ पीत इन्दो पितेव सोम सूनवे सुशेवः ।
सखेव सख्य उरुशंस धीरः प्र ण आयुर्जीवसे सोम तारीः ॥३७॥

—ऋ० ८।४८।४॥

हे आह्लादप्रद ईश्वर-भक्ति-रस अथवा शरीर पोषक सात्त्विक अन्न-जल तेरा पान हमारे लिए कल्याणकारी होवे । जिस प्रकार पिता पुत्र के लिए तथा मित्र-मित्र के लिए सुखकारी होता है, उसी प्रकार सब से प्रशंसित हे सौम्य शान्त-भाव, या भक्ति रस ! तू धीर होकर हमारे जीवन के आनन्द के लिए आयु का संवर्धन कर ।

मुक्त के स्वभाव में योग्य पर कृपा

ओं सुवीरो वीरान् प्रजनयन् परीह्यभि रायस्पोषेण यजमानम् ।
संजग्मानो दिवा पृथिव्या शुक्रः शुक्रशोचिषा निरस्तः
शण्डः शुक्रस्याधिष्ठानमसि ॥३८॥

—यजु० ७।१३॥

श्रेष्ठ योग बल से सम्पन्न हे योग-वीर ! अपने सदृश गुण-सम्पन्न पुरुषों का निर्माण करते हुए आप सर्वत्र भ्रमण करें । दानी उत्तम पुरुषों को भी ऐश्वर्य की पुष्टि से कृतार्थ कीजिए । सूर्य की तेजस्विता और पृथ्वी के धैर्य-गुणों से संगत होते हुए, विषयासक्ति से हटे हुए जीवन्मुक्त तथा शम-दम आदि गुणों से युक्त आप योग-बल के आधार हैं ।

मुक्ति से पुनरावृत्ति की कामना

ओं कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारुदेवस्य नाम ।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात्पितरं च दृशेयं मातरं च ॥३९॥

—ऋ० १।२४।१॥

प्रश्न—मुक्त जीवात्मा जानना चाहता है कि मुक्तों और अमर दिव्य आत्माओं में से ऐसे कौन से श्रेष्ठ देव का नाम हम जानें ; जो अपने गुण, कर्म, स्वभाव की विशेषता द्वारा महान् अदिति=मूल अखण्डनीय प्रकृति के लिए हमें पुनः पहुंचा दे ; और हम अपने जन्मदाता माता-पिता को फिर देख सकें ?

ओम् अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम ।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात्पितरं च दृशेयं मातरं च ।।४०।।

—ऋ० १।२४।२।।

उत्तर—हम उस आदि भूत सुन्दर अग्नि देव के नाम को अमर पदार्थों में से पहचानें, जो अपने गुणों के द्वारा हमें महान् अदिति आद्या माँ प्रकृति के लिए पुनः दे देगा और हम अपने जन्मदाता पिता-माता को पुनः देखेंगे ।

अमर पद पाकर भी मुक्त-पुरुष सर्व-कल्याण हेतु दिव्य शरीर धारते हैं

ओं नृचक्षसो अनिमिषन्तो अर्हणा बृहद्देवासो अमृतत्वमानशुः ।
ज्योतिरथा अहिमाया अनागसो दिवो वर्ष्माणं वसते स्वस्तये ।।४१।।

—ऋ० १०।६२।४।।

मानवीय दृष्टि से सम्पन्न, आंखें न मींचने वाले=सतत जागरूक द्रष्टा, यथोचित व्यवहार द्वारा सब के द्वारा सत्करणीय, बहुत दानशील और दिव्य गुण-युक्त विद्वान् योगी अमर पद को प्राप्त करते हैं । मुक्त होकर मात्र प्रकाश ज्योतिरूप शरीररथ पर आरूढ, व्यापक शान्ति और प्रेम वाले (Blissful), नितान्त निष्पाप होकर सब के कल्याण के लिए दिव्य शरीरों में रहते हैं ।

बारंबार हमें दैहिक साधन प्राप्त हों

ओं पुनः प्राणः पुनरात्मा न ऐतु पुनश्चक्षुः पुनरसुर्न ऐतु ।
वैश्वानरो नो अदब्धस्तनूपा अन्तस्तिष्ठाति दुरितानि विश्वा ।।४२।।

—अथर्व० ६।५३।२।।

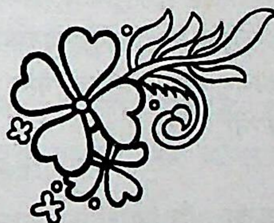
हमारा प्राण और आत्मा हमें पुनः-पुनः प्राप्त हों । हमारी आंखें आदि इन्द्रियां और श्वास-प्रश्वास की शक्ति हमें पुनः-पुनः प्राप्त हों । वह अग्रणी अग्नि-शक्ति (Energy) जो किसी से भी दबायी या समाप्त नहीं की जा सकती और हमारे शरीरों का पालन करती है, हमारे अन्दर समस्त पापों दुष्कर्मों और विनाशक स्थितियों में भी धैर्यपूर्वक रक्षा करती हुई बनी रहे । [ऐसी स्पष्ट प्रार्थनाओं में 'मोक्ष और पुनर्जन्म' का सामञ्जस्य सत्यार्थप्रकाश (नवम समुल्लास) में 'मुक्ति से पुनरावृत्ति' की स्थापना द्वारा समुचित रूपेण किया है ।]

पुनर्जन्म में उत्तम-इन्द्रिय आदि की कामना

**ओम् असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम् ।
ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृळया नः स्वस्ति ॥४३॥**

—ऋ० १०।५९।६॥

हे प्राणों को प्राप्त कराने वाले परमात्मन् ! तू पुनर्जन्म में हमारे निमित्त पुनः नेत्र, प्राण और भोग्य पदार्थों को धारण करा । हम उदय होते हुए सूर्य को चिरकाल तक देखें । हे परमेश्वर ! हमारे लिए जो कल्याणकारक है वह प्रदान कीजिए ।



यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥

—कठ० २।३।१०॥

भिद्यते हृदय-ग्रन्थिश् छिद्यन्ते सर्व-संशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

—मुण्डक० २।२।१८॥

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् ।
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति ॥

—तैत्तिरीय०, आनन्द वल्ली १।१॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देह-समुद्भवान् ।
जन्म-मृत्यु-जरा-दुःखैर् विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥

—गीता १४।२०॥

☆ ईश्वर ☆

- क्लेश-कर्म-विपाकाशयैर् अपरामृष्टः
  पुरुष-विशेष ईश्वरः ।
- तत्र निरतिशयं सर्वज्ञ-बीजम् ।
- स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।
- तस्य वाचकः प्रणवः ।
- तज्जपस्तदर्थ-भावनम् ।
- ततः प्रत्यक्-चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ।

—योग॰ १।२४ से २९।।

- *सब सत्य-विद्या और जो पदार्थ-विद्या से जाने जाते हैं, उन सब का आदि मूल परमेश्वर है ।*
- *ईश्वर सच्चिदानन्द-स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य पवित्र, और सृष्टिकर्ता है । उसी की उपासना करनी योग्य है ।*

—महर्षि दयानन्द सरस्वती

जहां मुक्ति, ज्ञान, प्रकाश और सात्त्विक आनन्द की सतत, निर्बाध अनुभूति हो चले, समझो प्रभु को पा लिया । ***—'आलोक'***

'ईश्वर जीवों को बनाता नहीं, वरन् उनका अस्तित्व स्वयमेव है। ईश्वर जीवों की उन्नति के लिए तरह-तरह के साधन उपस्थित करता है । उनको सत्कर्मों के लिए प्रेरणा भी देता है, पर उसने कर्म करने में उनको स्वतन्त्र ही रखा है । शुभ परिणाम और दण्ड भी स्वयम् ईश्वर नहीं देता, वरन् उसने ऐसी व्यंवस्था बना दी है कि प्रकृति स्वयं ही यह कार्य पूरा क़र लेती है । भारतीय धर्म के अधिकांश विचारकों ने प्रकृति को ईश्वर की सहचरी या अनुचरी माना है । इसलिए वह जो कुछ करती है, उसका कर्ता ईश्वर ही समझा जाता है ।'

—पं॰ श्रीराम शर्मा आचार्य,
ईश्वर कौन है ? कहां है, कैसा है ?
(पृ॰ १५)



ईश्वर

ईश्वर का बाह्य स्वरूप

ओ३म् यस्य भूमिः प्रमाऽन्तरिक्षमुतोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥१॥

ओं यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः ।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥२॥

ओं यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन् ।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥३॥

—अथर्व०१०।७।३२,३३,३४॥

यह भूमि जिसके चरणों जैसी, अन्तरिक्ष उदर जैसा, द्युलोक को जिसने अपनी मूर्धा बनाया, उस ज्येष्ठ ब्रह्म को नमस्कार। सूर्य और चन्द्रमा दोनों फिर-फिर नये होते हुए जिसकी आंखें हैं, अग्नि को जिसने मुख बनाया उस ज्येष्ठ ब्रह्म को नमस्कार। वायु जिसकी प्राण और अपान है, प्रकाश की रश्मियां जिसकी दृष्टि हैं, दिशाओं से जिसके विस्तार का विशेष ज्ञान होता है, उस पर-ब्रह्म को नमस्कार।

वह सब चेतनाओं का संगठित रूप है

ओं यदेजति पतति यच्च तिष्ठति प्राणदप्राणन्निमिषच्च यद् भुवत्।
तद् दाधार पृथिवीं विश्वरूपं तत् संभूय भवत्येकमेव ॥४॥

—अथर्व० १०।८।११॥

इस जगत् में जो कुछ चेष्टा करता है, उड़ता (गिरता) है, जो ठहरता है,

प्राण लेता या नहीं लेता और जो कुछ आंखें झपकता हुआ विद्यमान हो रहा है, ब्रह्म के उस सब विश्वरूप ने पृथिवी को धारण किया हुआ है। उस सब विश्वरूप की सम्मिलित शक्ति एकाकार होकर स्थित है। (उसी को ब्रह्म कहते हैं।)

वह हृदयस्थ है

ओम् आविः सन्निहितं गुहा जरन्नाम महत् पदम्।
तत्रेदं सर्वमार्पितमेजत् प्राणत् प्रतिष्ठितम् ॥५॥

—अथर्व० १०।८।६॥

वह आविर्भूत व्यक्त प्रकट स्तुति योग्य 'जरत्' नाम वाला महान् स्थान वाला, प्राप्तव्य सत्य ब्रह्म हृदय गुफा में सन्निहित है। उसी में यह सारा जगत् अर्पित है, और चेष्टा करता हुआ श्वास लेता हुआ प्रत्यक्ष प्रतिष्ठित है।

आनन्दमय द्रष्टा की सर्वव्याप्ति

ओं स एति सविता स्वर्दिवस्पृष्ठेऽवचाकशत् ॥६॥

ओं रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः ॥७॥

—अथर्व० १३।४।१,२॥

वह सब का प्रेरक परमेश्वर आकाश में या प्राणियों के व्यवहार की पीठ पर वर्तमान होकर देखता हुआ आनन्द को प्राप्त होता है। [अर्थात् वह प्रेरणा-पूर्ण चेतना है, द्रष्टा है और आनन्द-युक्त है।]

बड़ा ऐश्वर्यवान् सब ओर से ढका हुआ अन्तर्यामी परमेश्वर किरणों के द्वारा सब प्रकार पुष्ट किये हुए मेघमण्डल में व्यापक है। [अर्थात् अपनी ही प्रेरणाओं से परिपूर्ण अन्तरिक्ष में वह सब का स्वामी हृदयाकाश में प्रच्छन्न होकर व्याप्त है।]

वही एक सर्वव्यापक है

ओं तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव ॥८॥

ओम् एते अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति ॥९॥

—अथर्व० १३।४।१२,१३॥

यह सामर्थ्य उस परमात्मा को निश्चय करके प्राप्त है । वह यह एक ही है । वह अकेला सर्वत्र वर्तमान अकेला ही है ।

इस परमात्मा में ये सब विविध शक्ति-रूप देवता और चलने वाले पृथिवी आदि लोक वर्तमान रहते हैं । [अर्थात् सभी दिव्य एवं प्राकृतिक शक्तियां उसी एक ईश्वर से आच्छादित हैं ।]

उसके विविध रूप

ओं स एव मृत्युः सोऽमृतं सोऽभ्वं स रक्षः ॥१०॥

ओं स रुद्रो वसुवनिर्वसुदेये नमोवाके वषट्कारोऽनु संहितः ॥११॥

ओं तस्येमे सर्वे यातव उप प्रशिषमासते ॥१२॥

ओं तस्यामू सर्वा नक्षत्रा वशे चन्द्रमसा सह ॥१३॥

—अथर्व० १३।४।२५,२६,२७,२८॥

वही मरण देने वाला, वही अमरत्व का कारण, वही महान् वही रक्षक परब्रह्म है ।

वह ज्ञानदाता, अनुशासन कर्ता दुष्टों को रुलाने वाला, श्रेष्ठ का उपकारक, श्रेष्ठों के नमन का प्रत्युत्तर देने वाला, सब के साथ स्थित है ।

ये सभी चलने वाले लोकलोकान्तर उसके उत्तम शासन को मानते हैं ।

सब नक्षत्र भी चन्द्रमा सहित उसी परमात्मा के वश में हैं ।

ईश्वर यज्ञ रूप है

ओं स वै यज्ञादजायत तस्माद् यज्ञोऽजायत ॥१४॥

ओं स यज्ञस्तस्य यज्ञः स यज्ञस्य शिरस्कृतम् ॥१५॥

—अथर्व०१३।४।३९,४०॥

वह [परमात्मा] यज्ञ से ही अवश्यमेव प्रकट होता है, और वस्तुतः यज्ञ का जन्म उसी से होता है ।

वही यज्ञ है, उसी का यज्ञ है और यज्ञ का शीर्षस्थ कर्म भी वही है ।

[इससे पूर्व इस सूक्त के मन्त्र २९ से ३८ तक अन्य १० तत्त्व भी ऐसे परिगणित हैं जिन से वह उत्पन्न या प्रकट होता है, तथा जिन्हें वह प्रकट करता

है:—अहन्, रात्रि, अन्तरिक्ष, वायु, द्यौ, दिग्, भूमि, अग्नि, आपः, ऋक् (ऋचाएं)। आगे ४४वें मन्त्र में इसी का विस्तार इस प्रकार है:—**तावांस्ते मघवन् महिमोपो ते तन्वः शतम् ॥** हे ऐश्वर्यशालिन्! तेरी महिमा उतनी तो है ही, और भी तेरे सैकड़ों शरीर हैं, रूप हैं।]

ईश्वर की सर्वातिशयिता और उस रूप में उपासना

ओं भूयानिन्द्रो नमुराद् भूयानिन्द्रासि मृत्युभ्यः ॥१६॥

ओं भूयानरात्याः शच्याः पतिस्त्वमिन्द्रासि
विभूः प्रभूरिति त्वोपास्महे वयम् ॥१७॥

—अथर्व० १३।४।४६,४७॥

हे परमैश्वर्यवान् तुम अमरणधर्मा [नित्य परमाणु-जगत्, प्रकृति-तत्त्व] से भी बढ़कर हो और मरणधर्मी [अनित्य कार्यजगत्] से भी अधिक हो।

हे ऐश्वर्यशालिन् तुम पूरे शत्रु-वर्ग से अधिक हो। कारण, तुम शची (वाक्शक्ति, बुद्धि या कर्म) के स्वामी हो। हम सर्वव्यापक एवं सर्वसामर्थ्यवान् के रूप में तुम्हारी उपासना करते हैं।

द्रष्टा ईश्वर की उपासना

ओम् अम्भो अमो महः सह इति त्वोपास्महे वयम्।
नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत।
अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन ॥१८॥

ओम् उरुः पृथुः सुभूर्भुव इति त्वोपास्महे वयम्।
नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत।
अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन ॥१९॥

—अथर्व० १३।४।५०,५२॥

अम्भः के समान व्यापक, अमः न मापने योग्य अपरिमित (ज्ञानस्वरूप), महान् और सहनशील (क्षमावान्) के रूप में हम तेरी उपासना करते हैं। तुम को द्रष्टा-रूप में नमस्कार हो। मुझ को भी द्रष्टा बनते हुए आप देखिये। अन्न आदि भोज्य पदार्थ (भोग-विलास की वस्तुएं), यश, तेज और ब्राह्मण की वर्चस्विता

(वेद-ज्ञान) से मुझे सम्पन्न होते हुए देखिये भगवन् ! अर्थात् मुझ पर आपका निरीक्षण सदा बना रहे ।

तुम अत्यन्त विशाल हो, विस्तृत हो, सर्वत्र भलीभांति विद्यमान हो, सब के अस्तित्व का आधार भी तुम्हीं हो, पालनकर्ता हो, इस रूप में हम तुम्हारी उपासना करते हैं । तुझ द्रष्टा को नमस्कार, मैं भी द्रष्टा बन रहा हूं, अन्न आदि, यश, तेज ब्राह्मणत्व पर आपका निरीक्षण बना रहे ।

ईश्वर के विविध उपासितव्य स्वरूप

ओं भवद् वसुरिदद् वसुः संयद् वसुर्
आयद् वसुरिति त्वोपास्महे वयम् ॥२०॥

—अथर्व० १३।४।५४॥

हे प्रभु ! तेरे जिस ऐश्वर्य की हम उपासना करते हैं वह धन-वैभव के रूप में सर्वत्र विद्यमान है । उसे तू श्रेष्ठ पुरुषों को बांटता रहता है । उस ऐश्वर्य पर तुम्हारा पूर्ण अनुशासन है, और उसे तुम निरन्तर विस्तार देते रहते हो ।

इस सूक्त में कुछ इस प्रकार के विशेषणों द्वारा उपासितव्य ईश्वर का स्वरूप व्यक्त हुआ है :–

मन्त्र : ४७ शचीपति=वाचस्पति, विभूः=व्यापक
प्रभूः =प्रभविष्णु

मन्त्रः ५० अम्भः=गुह्य, गहन गम्भीर, शान्त जल सा शीतल
अमः=अपरिमित महः=महान्-तम
सहः=सहनशील

मन्त्रः ५१ अरुणं=रक्तिम, सूर्य-सारथि सा अग्रणी, प्रेरक
रजतं=श्वेतिम, सतोगुणी=चांदी सा शीतल-शान्त
रजः=ज्योतिः-स्वरूप, रजोगुणी=गतिकारक

मन्त्रः ५२ उरुः=विशाल, पृथुः=विस्तृत
सुभूः=सर्वत्र भलीभांति विद्यमान (विष्णु)
भुवः=सब का संरक्षक, पालनकर्ता (,,)

मन्त्रः ५३ प्रथः=प्रथित, प्रसिद्ध वरः=वरणीय, श्रेष्ठ
व्यचः=सब विस्तार में पहुंचा हुआ (अञ्चु=गति-पूजनयोः)
लोकः=दर्शनीय, दृश्यमात्र में दृष्ट-रूप

ईश्वर एक किन्तु नाम अनेक

ओम् इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुर् अथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्य्-अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥२१॥

—ऋ० १।१६४।६॥

ईश्वर को परम ऐश्वर्ययुक्त होने से 'इन्द्र', सर्वाधिक-विश्वसनीय मित्र जैसा होने से 'मित्र', श्रेष्ठ वरणीय होने से 'वरुण', तथा विद्युत् आदि के रूप में सर्व व्याप्त शक्ति (Energy) होने से 'अग्नि' कहा जाता है। इसके अतिरिक्त वह अलौकिक प्रकाशयुक्त होने से 'दिव्य', सुन्दर पालने वाला होने से 'सुपर्ण', तथा महान् आत्मा होने से 'गरुत्मान्' भी है। यद्यपि वह परम सत्ता केवल एक ही है, फिर भी मेधावी जन उसके गुण-कर्म-स्वभाव के अनुरूप बहुत प्रकार के नामों से बुलाते हैं। इसीलिए जहां कोई उसे 'अग्नि' सर्वव्याप्त शक्ति कहता है, वहीं कोई उसे 'यम'=सर्वनियन्ता, और कोई उसे 'मातरिश्वा'=अन्तरिक्ष में स्पन्दन (Vibrations) भरने वाला कहता है।

ईश्वरीय शक्तियों के विविध नाम वन्दनीय हैं

ओं विश्वा हि वो नमस्यानि वन्द्या नामानि देवा उत यज्ञियानि वः।
ये स्थ जाता अदितेरद्भ्यस्परि ये पृथिव्यास्ते म इह श्रुता हवम्॥२२॥

—ऋ० १०।६३।२॥

ईश्वर की वन्दनीय दिव्य शक्तियों के सभी नाम आप के द्वारा नमस्करणीय हैं। ब्रह्म यज्ञ द्वारा समीपस्थ होकर उपासनीय हैं और ये सब देव-नाम आप के द्वारा यजनीय भी हैं— देवपूजा, संगतिकरण, दान के माध्यम से। मूल अखण्डनीया अदिति माता के अपस्='क्रियाशील होने रूप तत्त्व-सृजन' द्वारा जो सर्वत्र प्रकट हो रहे हैं, और जो इस पृथिवी पर भी हैं, वे दिव्य तत्त्व मेरी पुकार को सुनें। अर्थात् मेरी पुकार हृदय से उठे व अन्तर्मुखी होकर इन आध्यात्मिक शक्तियों तक पहुंच सके।

ईश्वर ही इन्द्र अग्नि, मित्र, वरुण, भग, द्यावापृथिवी और मरुत् रूप में है

ओं भरेष्विन्द्रं सुहवं हवामहेऽहोमुचं सुकृतं दैव्यं जनम् ।
अग्निं मित्रं वरुणं सातये भगं द्यावापृथिवी मरुतः स्वस्तये ॥२३॥

—ऋ० १०।६३।९॥

जीवन के इन भर=संघर्षपूर्ण क्षणों में हम असानी से पुकारे जाने योग्य महान् ऐश्वर्यशाली ईश्वर 'इन्द्र' का आह्वान करते हैं। यह पापकर्मों से मुक्त करता है, शुभ कर्म कराता है एवं दिव्यता और उत्पादक शक्ति से युक्त है। (साति=) विविध अन्न आदि द्रव्य एवं सहयोग पाने के लिए हम उसे 'अग्नि', 'मित्र', 'वरुण' और 'भग' नामों से पुकारते हैं। हमारे समग्र मंगल के लिए वही द्यौलोक, पृथिवी एवं मरुद्गण के रूप में है।

कारण और कार्य-जगत् का नियन्ता

ओम् अनन्तं विततं पुरुत्रानन्तमन्तवच्चा समन्ते।
ते नाकपालश्चरति विचिन्वन् विद्वान् भूतमुत भव्यमस्य ॥२४॥

—अथर्व० १०।८।१२॥

अन्त-रहित कारण-जगत् बहुत प्रकार से अनन्त रूपों में विस्तृत हुआ है। उसी के समीप अन्त वाला कार्य-जगत् भी स्थित है, फैला रहता है। उन दोनों को पृथक्-पृथक् करता हुआ मोक्ष-सुख का पालक परमात्मा इस ब्रह्माण्ड के भूत और भविष्यत् को जानता हुआ विचरण करता रहता है।

सनातन भी और नित-नवीन भी

ओं सनातनमेनमाहुरुताद्य स्यात् पुनर्णवः।
अहोरात्रे प्रजायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः॥२५॥

—अथर्व० १०।८।२३॥

इस परमेश्वर को नित्य सनातन कहा जाता है। साथ ही आज भी वह फिर से नया-नया होता जाता है। रात और दिन एक दूसरे के रूपों में से ही उत्पन्न होते रहते हैं। [जैसे ये सनातन और नित नये हैं, वैसे ही ईश्वर भी नित्य-नवीन है।]

ईश्वर में असीम वैभव व सहनशीलता है

ओं शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदमसंख्येयं स्वमस्मिन् निविष्टम्।
तदस्य घ्नन्त्यभिपश्यत एव तस्माद् देवो रोचत एष एतत् ॥२६॥

—अथर्व० १०।८।२४॥

इस ईश्वर में सैकड़ों सहस्रों, लाखों, करोड़ों, असंख्यों मात्रा वाला वैभव

रखा हुआ है । उस ईश्वर के देखते हुए ही उसी के निरीक्षण में सब प्राणी उस धन को भोगते हैं । इसीलिए ऐसा सहनशील वह सुशोभित होता है । तथा यह देव सब को भाता है ।

उसी की दिव्य-शक्ति-रूपा प्रकृति मां मुझे प्रिय है

ओं बालादेकमणीयस्कमुतैकं नैव दृश्यते ।
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया ।।२७।।

—अथर्व० १०।८।२५।।

एक अणु, बाल के अंश से भी अणुतर है । उसके भीतर की रचना में स्थित (सत्त्व-रजस्-तमस्) गुण तो दिखते ही नहीं हैं । उन गुणों में चिपकी हुई वह देवता मां प्रकृति मूल-आद्या शक्ति मुझ आत्म तत्त्व को विशेष प्रिय है । [यह मन्त्र 'मां जगदम्बे की, देवीं-रूप कल्पना का मूल-स्रोत सा प्रतीत होता है ।]

मां प्रकृति का संचालक वह ईश्वर स्तुत्य है

ओम् इयं कल्याण्यजरा मर्त्यस्यामृता गृहे ।
यस्मै कृता शये स यश्चकार जजार सः ।।२८।।

—अथर्व० १०।८।२६।।

यह कल्याणी प्रकृति-माता कभी जीर्ण नहीं होती । मरणधर्मी शरीरों में वह अमृता है, सदा बनी रहती है । जिसके लिए यह माता बनी है, वह जीव-रूपी आत्म-तत्त्व) इस में विश्राम करता है । जिस परमेश्वर ने इसे रचा है, वस्तुतः गतिशील किया है, वह द्रष्टा स्तुत्य है ।

ईश्वर परिपूर्ण है

ओं पूर्णात् पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते ।
उतो तदद्य विद्याम यतस्तत् परिषिच्यते ।।२९।।

—अथर्व० १०।८।२९।।

पूर्ण-ब्रह्म परमेश्वर से यह पूर्ण ब्रह्माण्ड उदित हुआ है । उसी पूर्ण परमेश्वर द्वारा यह पूर्ण चराचर सींचा जाता है । आओ आज (योग-साधन द्वारा) यह जानें कि वह आखिर सींचा क्यों जाता है !

प्रकृति-सृष्टि ईश्वर का काव्य है

ओम् अन्ति सन्तं न जहाति अन्ति सन्तं न पश्यति ।
देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति ॥३०॥

—अथर्व० १०।८।३२॥

अत्यन्त समीप में सदा विद्यमान होने से उसे कभी भी कोई छोड़ नहीं नहीं सकता ; और साथ ही, इतना समीप है कि देख भी नहीं पाता । उस परम देव की ऐसी इस अद्भुत काव्य-कृति, सृष्टि-रचना को देखो, जो न कभी मरती है, न जीर्ण होती है, (केवल अपने रूप का परिवर्तन करती है ।)

वह निष्काम निर्भय बनाता है

ओं कामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः ।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥३१॥

—अथर्व० १०।८।४४॥

वह विश्वचेतना कामनाओं से रहित है, धैर्यशाली है, अमर और स्वयंभू है । अपने अमर आनन्द रस से सदा तृप्त है और कहीं से उस में कोई कमी नहीं है । उसी को अपना स्वरूप, धारणकर्ता, अजर और चिर युवा जानता हुआ योगी मृत्यु (-नामक जीवन-परिवर्तन-स्थिति) से कभी डरता नहीं ।

ईश्वर के समीप योगी भी उसी जैसा समर्थ बनता है

ओं सत्येनोर्ध्वस्तपति ब्रह्मणार्वाङ् विपश्यति ।
प्राणेन तिर्यङ् प्राणति यस्मिन् ज्येष्ठमधि श्रितम् ॥३२॥

—अथर्व० १०।८।१९॥

जिस योगी में सर्वश्रेष्ठ महान् ब्रह्म निरन्तर ठहरा रहता है, वह सत्य के उच्च प्रताप से दीप्तिमान् होता है । वेद ज्ञान के द्वारा वह अन्तर्मुख होकर 'विपश्यी' विशेष द्रष्टा बन जाता है । और प्राण-बल के कारण उसकी जीवन-यात्रा प्रखर और उन्नति-पथगामी होती है । [*देखें—यो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति, स नः पर्षदति द्विषः ।* .... इन मन्त्रों में *'विपश्यति'* शब्द के आधार पर बौद्ध-साधना-पद्धति *'विपस्सना'* का मूल भी खोजा जाता है ।]

स्रष्टा की महिमा अनिवर्चनीय

ओं केन पर्जन्यमन्वेति केन सोमं विचक्षणम् ।
केन यज्ञं च श्रद्धां च केनास्मिन् निहितं मनः ॥३३॥

—अथर्व० १०।२।१९॥

किस महिमा द्वारा वह मेघ में अन्वित है, व्याप्त है ? किस महिमा द्वारा वह द्रष्टा-चन्द्रमा में अन्वित है ? किस महिमा से उपासक के ध्यान और श्रद्धा में वह अन्वित होता है । किस महिमा से इस पुरुष में उसने मन रखा है, स्थापित किया है ? [उस परम पुरुष की महिमा का उल्लेख इस से पहले वाले मन्त्र में हुआ है । यहां प्रश्न को अनुत्तरित रख कर उस के व्याप्ति-सामर्थ्य की अनिर्वचनीयता का संकेत भी हो गया है ।]

वह सर्वाधार है

ओं यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता । यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥३४॥

—अथर्व० १०।७।१२॥

जिसमें भूमि, अन्तरिक्ष और द्युलोक स्थित है । अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य और वायु जिसके प्रति समर्पित होकर अवस्थित हैं । उसे तुम 'स्कम्भ', अर्थात् 'सब को अपने-अपने नियत स्थान तथा व्यवस्था में बांधने वाला सर्वाधार ब्रह्म' कहो । वह अतिशय आनन्द-रूप ही है ।

ओं स्कम्भो दाधार द्यावापृथिवी उभे इमे स्कम्भो दाधारोर्वन्तरिक्षम्। स्कम्भो दाधार प्रदिशः षडुर्वीः स्कम्भ इदं विश्वं भुवनमाविवेश ॥३५॥

—अथर्व० १०।७।३५॥

सर्वाधार ब्रह्म=स्कम्भ ने द्युलोक और पृथ्वी-लोक इन दोनों लोकों को धारण किया हुआ है । उसी स्कम्भ ने विस्तृत अन्तरिक्ष को धारित किया है । फैली हुई छओं व्यापाक दिशाएं उसी ने धारित की हुई हैं । इस समस्त ब्रह्माण्ड में वह स्कम्भ ही प्रविष्ट है । [सब को धारण करने वाले उस परब्रह्म के इस कुछ कम प्रसिद्ध नाम **'स्कम्भ'** का वर्णन अथर्ववेद के इस सूक्त में विस्तार से हुआ है । बीच-बीच में उसे **'ज्येष्ठ ब्रह्म'** भी कहा गया है । इस स्कम्भ को जानने का मार्ग भी वहीं कहा गया है– (–अथर्व० १०।७।१७)]

वह विश्वकर्मा है

**ओं वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं वाजे अद्या हुवेम ।
स नो विश्वानि हवनानि जोषद् विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा ॥३६॥**

—यजु० १७।२३॥

वेदवाणी के स्वामी, विश्व की रचना करने वाले, मन के समान वेगवान् परम पिता परमेश्वर का हम आज जीवन-संग्राम में आह्वान करते हैं । वह विश्व को शान्ति देने वाला, तथा सत्कर्म की प्रेरणा द्वारा कल्याण करने वाला विश्वकर्मा हमारी रक्षा के लिए हमारे समस्त यज्ञीय कर्मों को प्रेमपूर्वक स्वीकार करे ।

सर्वेश्वर

**ओं त्वमीशिषे सुतानामिन्द्र त्वमसुतानाम् ।
त्वं राजा जनानाम् ॥३७॥**

—ऋ० ८।६४।३॥

हे परमेश्वर ! तू शुभकर्मों में निरत जनों का स्वामी है और कुकर्मियों का भी स्वामी है । इतना ही नहीं अपितु सर्वजनों का तू ही राजा है । [जब ईश्वर ही कुकर्म में लगे लोगों का भी स्वामी है, तब वे अपने दुष्कर्म से विरत क्यों नहीं होते ? क्योंकि वे ईश्वरीय प्रेरणा को अनसुनी करने का स्वभाव बना लेते हैं ।]

ईश्वर : निराकार

**ओं न तस्य प्रतिमाऽअस्ति यस्य नाम महद्यशः ।
हिरण्य-गर्भऽइत्येष मा मा हिꣳसीदित्येषा यस्मान्न जात इत्येषः ॥३८॥**

—यजु० ३२।३॥

जिस ईश्वर का नाम और यश बहुत महान् है । उसकी कोई प्रतिमा, प्रतिकृति, मूर्त्ति या आकृति नहीं है । उस की महिमा का वर्णन अनेक मन्त्रों में हुआ है, जैसे कि '**हिरण्यगर्भः**……इत्यादि, (यजु०२५।१०), '**मा मा हिंसीद्** ………… इत्यादि' (यजु०१२।१०२), तथा '**यस्मान्न जातः**………इत्यादि' (यजु०८।३६) मन्त्रों में ।

ईश्वर सर्वशक्तिमान्

ओं स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥३९॥

—यजु० ४०।८॥

हे मनुष्यो ! जो परमात्मा सर्वशक्तिमान् तीनों शरीरों से रहित, नाड़ी बन्धन से रहित, पवित्र, कभी अन्याय या पाप से दूषित न होने वाला, सब ओर व्याप्त सर्वज्ञ है । सब जीवों की मनोवृत्तियों का ज्ञाता स्वयं की सत्ता से विद्यमान वह परमात्मा प्रवाह से सनातन अपनी सन्तान के लिए यथार्थतः सब पदार्थों की व्यवस्था करता है । (वही उपासनीय है ।)

सर्वव्यापक

ओं त्वं हि विश्वत्तोमुख विश्वतः परिभूरसि ।
अप नः शोशुचदघम् ॥४०॥

—ऋ० १।७।६॥

सब ओर मुख वाले हे प्रभु ! तुम सर्वत्र विराजमान रहते हुए सब कुछ देखते हो । हे परमेश्वर ! आप हमारे पाप विनष्ट करें ।

वह सब के अत्यन्त समीप है

ओं तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥४१॥

—यजु० ४०।५॥

वह ईश्वर अयोगियों की दृष्टि से चलायमान और दूर है । किन्तु योगियों की दृष्टि में चलायमान नहीं है और उनके बहुत समीप है । वह सब जगत् व जीवों के भीतर तथा प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष जगत् के बाहर भी वर्तमान है ।

वह सर्वज्ञ है

ओं स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यत्र देवाऽअमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥४२॥

—यजु० ३२।१०॥

वह परमात्मा हमारा सम्बन्धी है, वही श्रेष्ठ हमें उत्पन्न करने वाला है। सब पदार्थों एवं कर्मों का विधान करने वाला विधाता सब लोक-लोकान्तर तथा जन्म-स्थान आदि को जानता है। जीव और प्रकृति से भिन्न उस तृतीय आधार रूप जगदीश्वर में मोक्ष-सुख को भोगते हुए दिव्य योगीजन सर्वत्र इच्छापूर्वक विचरते हैं।

वह नित्य है

ओं शाक्मना शाको अरुणः सुपर्ण आ यो महः शूरः सनादनीळः।
यच्चिकेत सत्यमित्तन्न मोघं वसु स्पार्हमुत जेतोत दाता ॥४३॥

—ऋ० १०।५५।६॥

हे प्रभो! तू शक्ति-सम्पन्न होने से सर्व-समर्थ तेजोमय, सब को गति देने वाला, सब से महान्, दुष्टों का दमनकर्ता पूज्य, सनातन (नित्य) तथा स्थान-विशेष पर न बंधकर सर्वत्र व्यापक है। ऐसा तू जो कुछ जानता या करता है वह सत्य ही होता है, व्यर्थ नहीं होता। तू सब कों वश में रखने वाला एवं स्पृहणीय ऐश्वर्य देने वाला है।

वह सब में तथा सब उस में हैं

ओं प्रजापतिश्चरति गर्भेऽअन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥४४॥

—यजु० ३१।१९॥

प्रजा का पालक जगदीश्वर ही जड़-चेतन के बाहर और भीतर केन्द्र में अन्तर्यामी रूप से स्थित है। स्वयं जन्म न लेता हुआ भी विविध जड़-चेतन रूपों में वही प्रकट होता है। योगी लोग उसके मूल स्वरूप को जानते हैं तथा मोक्ष को प्राप्त होकर सदा आनन्द में रहते हैं। उस परम सत्ता में ही सब लोक-लोकान्तर स्थित हैं।

ईश्वर ही बुद्धियों को योगयुक्त करता है

ओं यस्मादृते न सिद्ध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन।
स धीनां योगमिन्वति ॥४५॥

—ऋ० १।१८।७॥

जिस सदसस्पति=जगत्पालक के बिना किसी भी विद्वान् योगी का योग-यज्ञ सम्पन्न नहीं होता, वही परमेश्वर योग-युक्त बुद्धियों को समाहित कर उनमें व्याप्त होता है।

कमनीय है, नमनीय है

ओं कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः ।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महाँस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ।।४६।।

—अथर्व० ९।२।१९।।

सब का कमनीय ईश्वर सब से पहले प्रकट होता है उस परब्रह्म पद को कोई भी प्राणी = मनुष्य, देवता या पितर प्राप्त नहीं होता । इसीलिए हे कामनामय ईश्वर ! तू सबसे श्रेष्ठ सर्वव्यापक तथा महान् है । तुझे मैं नमन करता हूं ।

प्रेरक ईश्वर ही मोक्षदाता, ज्ञान प्रदाता है

ओं देवेभ्यो हि प्रथमं यज्ञियेभ्यो ऽमृतत्वं सुवसि भागमुत्तमम् ।
आदिद् दामानं सवितर्व्यूर्णुषेऽनूचीना जीविता मानुषेभ्यः ।।४७।।

—ऋ० ४।५४।२।।

हे सम्पूर्ण संसार के उत्पन्न करने वाले जगदीश्वर ! आप सत्य-भाषण आदि योग-यज्ञों का अनुष्ठान करने वाले श्रेष्ठ गुण कर्म और स्वभावयुक्त जीवों के लिए भजने योग्य श्रेष्ठ मोक्ष-सुख की प्रेरणा सर्वप्रथम करते हो और उपलब्धि भी कराते हो । इसके साथ दाता-जन को अपनी व्याप्ति से ढकते हो । शेष सामान्य मनुष्यों को ऐसी जीवनी शक्ति देते हो कि वे आपकी वेद-वाणी-रूप आज्ञाओं का अनुसरण कर सकें ।

सब आनन्द ईश्वर में समाहित हैं

ओं आ त्वा विशन्त्विन्दवः समुद्रमिव सिन्धवः ।
न त्वामिन्द्रातिरिच्यते ।।४८।।

—ऋ० ८।९२।२२।।

नदी नद आदि सभी जल-प्रवाह जिस प्रकार समुद्र में समा जाते हैं, उसी प्रकार समस्त आनन्द सब ओर से तुम्हीं में समा रहे हैं । इसी प्रकार हे परम ऐश्वर्यशाली भगवन् ! तुम से बढ़कर और वस्तुतः तुम से अतिरिक्त कोई और ऐश्वर्य है ही नहीं । [गीता २।७० में ब्राह्मी स्थिति कुछ ऐसी ही है :—

आपूर्यमाणमचल-प्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न काम-कामी ।।]

ईश्वर–समर्पण

ओं यदि वीरो अनुष्यादग्निमिन्धीत मर्त्यः ।
आजुह्वद्धव्यमानुषक् शर्म भक्षीत दैव्यम् ॥४९॥

–साम० ८२॥

मनुष्य यदि प्रकाश–स्वरूप परमात्माग्नि को निरन्तर अपने अन्दर प्रदीप्त रखे, तथा आत्म–समर्पण–रूपी हव्य की आहुति देता रहे, तो वह योग–शक्ति–सम्पन्न होकर परमात्म–देव द्वारा प्रदत्त सुख–शान्ति का उपभोग करता रहता है ।

उस अन्तर्यामी को शब्दों से नहीं, हृदय से जाना जाता है

ओं न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव ।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चाऽसुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥५०॥

–ऋ० १०।८२।७॥

हे मनुष्यो ! तुम उसे नहीं जानते जो इस सारी सृष्टि को उत्पन्न करता है । वही तुम्हारा सहायक साथी बन कर तुम्हारे अन्तर्हृदय में भी विद्यमान रहता है । वृथा बोलने वाले, अपनी ही प्राणों की तृप्ति में लगे हुए, शुष्क तर्कों द्वारा शब्दाडम्बर रचने वाले तथाकथित विद्वान् अज्ञान की धुन्ध में घिरे हुए भटकते रहते हैं, और उसे नहीं जान पाते ।

भूत, भविष्यत् और अमरता का अधीश्वर

ओं पुरुषऽएवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥५१॥

–यजु० ३१।२॥

जो जगत् उत्पन्न हो चुका या जो उत्पन्न होने वाला है, वह सब उसी चेतन पुरुष का दृश्यमान रूप है । यह समस्त जगत् जिस स्थूल रूप में अन्नमय साधनों से अत्यन्त बढ़ता रहता है, उसमें स्थित अमर तत्त्व का अधीश्वर भी वही है ।

[शरीरधारी व्यक्ति के दृश्यमान स्थूल भौतिक शरीर को भी उस व्यक्ति के रूप में जाना जाता है । वैसे ही, यहां दृश्य–जगत् के भूत एवं भविष्यत्–कालिक स्वरूप को पुरुष कहा गया है ।]

वह अनुपम है

ओं त्वं भुवः प्रतिमानं पृथिव्या ऋष्ववीरस्य बृहतः पतिर्भूः ।
विश्वमा प्रा अन्तरिक्षं महित्वा सत्यमद्धा नकिरन्यस्त्वावान् ॥५२॥

—ऋ० १।५२।१३॥

हे जगदीश्वर ! तू आकाश और भूमि का परिमाण-कर्ता महाबली व महान् गुण-युक्त होकर इस जगत् का पालन कर रहा है । तू सम्पूर्ण अविनाशी जीव व प्रकृति को अपनी महती व्याप्ति से पूर्ण किये हुए है । तेरे जैसा और कोई नहीं है । सचमुच तू अनुपम है ।

ईश्वर का सामर्थ्य बहुविध है

ओम् अग्निर्होता गृहपतिः स राजा विश्वा वेद जनिमा जातवेदाः ।
देवानामुत यो मर्त्यानां यजिष्ठः स प्र यजतामृतावा ॥५३॥

—ऋ० ६।१५।१३॥

वह सर्वव्यापक शक्ति अग्नि है, सृष्टि यज्ञ चलाने वाला 'होता' है, और इस ब्रह्माण्ड रूपी घर का स्वामी होने से 'गृहपति' है । सब का न्यायकारी शासक होने से 'राजा' है । वह समस्त विश्व के उत्पन्न पदार्थों को तथा मनुष्यों के जन्मों एवं कर्मों को जानता है, क्योंकि 'जातवेदा' है, प्रत्येक प्रसूत वस्तु में विद्यमान है । दिव्य मुक्त पुरुषों के लिए तथा मरणधर्मा शरीरधारियों के लिए वह पूज्यतम उपासनीय है । श्रेष्ठ यज्ञ करने वालों के लिए भी सत्य-न्याय-निर्णय देने वाला वही है ।

वही सर्वज्ञ है

ओं स इत् तन्तुं स विजानात्योतुं स वक्त्वान्यृतुथा वदाति ।
य ईं चिकेतदमृतस्य गोपा अवश्चरन् परो अन्येन पश्यन् ॥५४॥

—ऋ० ६।९।३॥

वह आत्मा ही विश्व के इस ताने-बाने को बुनता है, इसलिए वही इसे बुनना भी जानता है । वही ऋतुओं के अनुसार आन्तरिक निर्देश देता हुआ वक्तव्य बोलता रहता है । वह अमरता का संरक्षक इस सारे संसार को जानता है, कभी 'अवर-' गति करता है, नीचे चला जाता है । कभी ऊपर होकर 'पर'=श्रेष्ठ गति करता है । अन्य इन्द्रिय आदि प्रकृति-निर्मित साधनों से सदा वह ही देखता रहता है ।

क्या आत्म-तत्त्व का भी संवर्धन होता है ?

ओम् अयं होता प्रथमः पश्यतेमम् इदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु ।
अयं स जज्ञे ध्रुव आ निषत्तो अमर्त्यस्तन्वा३वर्धमानः ॥५५॥

—ऋ० ६।९।४॥

यह आत्म-तत्त्व ही प्रथम 'होता' है—जीवन यज्ञ का संचालक है । इसे देखो ! मरणधर्मा शरीरों में यही अमर ज्योति है । इस अमर आत्मा ने ही शरीर में जन्म लिया है, यहीं यह स्थिर होकर ठहरता है । मरणधर्मा शरीर के साथ-साथ यह अमरणधर्मा महिमावान् भी बढ़ता हुआ सा प्रतीत होता है । [आत्म-तत्त्व न घटता है, न बढ़ता है, फिर भी चेतन प्राणियों में ऐसा भ्रम होता है । यद्यपि वह जड़ पदार्थों में भी सदा विद्यमान है, तथापि वहां न उसकी उपस्थिति का भान हो पाता है, और न संवर्धन का मिथ्या-आभास ।]

वह सृष्टि की रचना करता है

ओं सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः ॥५६॥

—ऋ० १०।१९०।३॥

परमात्मा ने पूर्वकल्प की भांति ही सूर्य चन्द्र के समान सभी स्वतः प्रकाशित और परतः प्रकाशित लोकों की रचना की है । उसी ने द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्ग-लोक को रचा है ।

वह सत्य-मन्त्रों द्वारा ब्रह्माण्ड को धारण करता है

ओम् अजो न क्षां दाधार पृथिवीं तस्तम्भ द्यां मन्त्रेभिः सत्यैः ।
प्रिया पदानि पश्वो नि पाहि विश्वायुरग्ने गुहा गुहं गाः ॥५७॥

—ऋ० १।६७।३॥

अजन्मा परमेश्वर सत्यज्ञान युक्त मन्त्रों से अर्थात् शाश्वत-नियमों द्वारा भूमि आदि ग्रहों को धारण करता है, तथा अन्तरिक्षस्थ सूर्य आदि प्रकाशमान नक्षत्रों को थामे हुए है । इसी प्रकार शाश्वत जीवन जीने वाले हे विद्वान् साधक ! अपनी अभीष्ट योग-भूमियों को शरीर के व्याधि आदि पाशविक बन्धनों से भलीभांति बचाओ । तथा योग द्वारा प्राप्त गुह्य ज्ञान को हृदय-रूपी गुफा में प्राप्त करो ।

अनादि ईश्वर ही स्तवनीय है, उसी का प्रणिधान करें

ओं हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।५८।।

—ऋ० १०।१२१।१।।

सृष्टि से पूर्व सूर्यादि स्वप्रकाशित तेजस्वी पदार्थों का उत्पादक एक अद्वितीय हिरण्यगर्भ ही था । वह ही सब जगत् का सनातन प्रादुर्भूत प्रसिद्ध पति है । वही इन पृथिवी एवं द्युलोकों को धारण किये हुए है । वह ही योग का आदि उपदेशक है । उसी सुख-स्वरूप परमात्मदेव द्वारा स्वीकरणीय योगाभ्यास रूप विशेष भक्ति हम करें । ['**हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः ।।**' —महाभारत ।।]

हम उस ईश्वर के लिए ही समर्पण करें, किसी अन्य को नहीं

ओं य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्य च्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।५९।।

—ऋ० १०।१२१।२।।

जो आत्मज्ञान का दाता, शरीर आत्मा और समाज के बल का देने हारा है, जिस की सब विद्वान् लोग उपासना करते हैं, जिस के प्रत्यक्ष सत्य-स्वरूप शासन को सभी मानते हैं, जिसका आश्रय ही मोक्ष सुखदायक है ; जिसका न मानना ही मृत्यु आदि दुःख का हेतु है ; हम उस आनन्द स्वरूप परमात्मा की सर्वस्व-समर्पण द्वारा भक्ति करें ।

वह सब का स्वामी है

ओं यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव ।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।६०।।

—ऋ०१०।१२१।३।।

वह ईश्वर प्राण वाले और अप्राणी रूप जगत् का अपनी अनन्त महिमा से एक ही विराजमान राजा है । वही सब दो पैरों वाले व चार पैरों वालों का शासक है । उसी सुख-स्वरूप परमेश्वर की भक्ति हम विशेष प्रकार से करें । [ऋषि दयानन्द के अर्थ इन तीनों मन्त्रों में दिये गये हैं । वैसे '**कस्मै**' का यह भाव भी लिया जाता है कि उस ईश्वर के अतिरिक्त और किस की स्तुति करें ?]

कोई और उस जैसा नहीं; वह ज्योतियों का स्रोत है

ओं यस्मान्न जातः परोऽअन्योऽस्ति यऽआ विवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया सꣳ रराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥६१॥
—यजु॰ ८।३६॥

कोई ऐसा नहीं हुआ जो उससे उत्तम हो। वह समस्त भुवनों में अन्तः प्रविष्ट है। संसार मात्र का स्वामी वह परमेश्वर सब संसार के लिए सर्वोत्तम दाता होता हुआ सोलह कलाओं का (इच्छा, प्राण, श्रद्धा, पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, इन्द्रियगण, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, लोक और नाम का) अधिष्ठाता होने से तीन ज्योतियों—सूर्य, विद्युत् और अग्नि को सब पदार्थों में स्थापित करता है।

वह सर्वोत्पादक मुझे पीड़ित न होने दे

ओं मा मा हिꣳसीज्जनिता यः पृथिव्याः यो वा दिवꣳ सत्यधर्मा व्यानट्।
यश्चापश्चन्द्रः प्रथमो जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥६२॥
—यजु॰ १२।१०२॥

वह मुझे कुसंग आदि जीवन-नाशक कारणों से पीड़ित न होने दे, जो इस पृथिवी का जन्मदाता है, और सत्य-धर्मों के जिस पालक ने द्युलोक को सर्वत्र विस्तृत किया है। जिस ने सर्वप्रथम जलों एवं चन्द्रमा आदि ग्रह-नक्षत्रों को उत्पन्न किया, उसी सुख-स्वरूप दिव्य गुणों से युक्त परमेश्वर की हम लोग भक्ति योग से उपासना करें।

उसी के प्रति समर्पित हों

ओं यो मर्त्येष्वमृत ऋतावा देवो देवेष्वरतिर्निधायि।
होता यजिष्ठो मह्ना शुचध्यै हव्यैरग्निर्मनुष ईरयध्यै ॥६२॥
—ऋ॰ ४।२।१॥

वह जगदीश्वर मरणधर्मी पदार्थों में अमर है, सत्यस्वरूप है। उत्तम दिव्य पदार्थों और विद्वानों में वही सर्वोत्तम दिव्यगुण-स्वभाव वाला है। सब स्थानों में सर्वदा प्राप्त होने से धारण करने योग्य वही है। वह महादानी अपने महत्त्व के कारण सर्वपूज्य है। उस की पवित्रता और प्रेरणा पाने के लिए मनुष्यों को आत्म-समर्पण रूप आहुतियां उस के दिव्य-प्रकाश-रूप 'अग्नि' में देनी चाहिए।

समर्पित साधक पर प्रभु की विशेष कृपा

ओं यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि ।
तवेत्तत् सत्यमङ्गिरः ॥६४॥

—ऋ० १।१।६॥

हे प्रिय प्राण-स्वरूप परमेश्वर ! आप सब के मित्र होते हुए भी सर्वस्व अर्पण करने वाले साधक का सब प्रकार से कल्याण करते हैं । यह आपका अटल नियम है ।

संघर्षशील उपासक उसे प्रिय है

ओम् अभ्रातृव्यो अना त्वमनापिरिन्द्र जनुषा सनादसि ।
युधे दापित्वमिच्छसे ॥६५॥

—साम० ३९९॥

हे परमेश्वर ! आप स्वभाव से ही भ्राता आदि सांसारिक सम्बन्धों से रहित हैं । आपका कोई अग्रणी नहीं, आप सनातन (अनादि) हैं । जो संघर्षशील उपासक अपने आसुरी भावों के साथ युद्ध करता है, उसी के साथ आप बन्धुत्व चाहते हैं ।

वह रक्षक, वही प्रार्थनीय है

ओं वयमु त्वामपूर्व्य स्थूरं न कच्चिद्भरन्तोऽवस्यवः ।
वज्रिञ्चित्रं हवामहे ॥६६॥

—साम० ४०८॥

जैसे कोई निर्धन व्यक्ति धनी का आह्वान करता है, वैसे हे अनादि व अपूर्व शक्ति वाले वज्रधारी परमेश्वर ! हम उपासक आपके लिए भक्ति की भेंट लेते हुए अपनी रक्षा चाहते हैं ।

उसी अजेय की उपासना करें

ओं न स जीयते मरुतो न हन्यते न स्रेधति न व्यथते न रिष्यति ।
नास्य राय उप दस्यन्ति नोतय ऋषिं वा यं राजानं वा सुषूदथ ॥६७॥

—ऋ० ५।५४।७॥

हे मनुष्यो ! वह परमात्मा न तो किसी से जीता जाता है, न मारा जाता है । वह न क्षीण होता है, न व्यथित और न क्रुद्ध । न तो उसका ऐश्वर्य ही नष्ट होता है, और न रक्षण आदि की शक्तियां । वेदों के अनादि ज्ञाता और सब के स्वामी उस जगदीश्वर की ही उपासना करो ।

वाचिक ईश्वर-प्रणिधान-स्तवन

ओं त्वामग्ने धर्णसिं विश्वधा वयं गीर्भिर्गृणन्तो नमसोपसेदिम ।
स नो जुषस्व समिधानो अंगिरो देवो मर्त्तस्य यशसा सुदीतिभिः ॥६८॥

—ऋ० ५।८।४॥

हे ज्ञान स्वरूप परमात्मन् ! संसार को धारण करने वाले आप को हम साधक वाणियों से स्तुति करते हुए सत्कार से प्राप्त होवें । और प्रकाशमान अंग अंग में रमने वाले अङ्गिरा-देव ! आप हम मनुष्यों के उत्तम समर्पण भाव के माध्यम से हमें स्वीकार कीजिए, जिससे हम सब आप के समीप स्थित हों ।

ईशस्तुति सन्मार्ग द्वारा वैभव दे

ओं तमिन्द्रं जोहवीमि मघवानमुग्रं सत्रा दधानमप्रतिष्कुतं
श्रवांसि भूरि । मंहिष्ठो गीर्भिरा च यज्ञियो ववर्त राये नो
विश्वाः सुपथा कृणोतु वज्री ॥६९॥

—साम० ४६०॥

मैं उस परमेश्वर का श्रद्धापूर्वक बार-बार आह्वान करता हूं, जो ऐश्वर्यों का स्वामी है, जो किसी से नहीं दबता, सत्य तथा बहुत धनों एवं यशों का धारक है । अपराजेय जो एकमात्र पूजनीय, दानी तथा यज्ञस्वरूप है । वह आध्यात्मिक तथा सांसारिक सम्पत्तियों के प्रदान करने के लिए स्तुति-वाणियों के द्वारा उपासकों की ओर आकृष्ट होता है । वह दण्ड-विधायक हमारे श्रेष्ठ धनों तथा यशों को सुपथ द्वारा प्रापणीय करें ।

ईश्वर का स्वभाव : शान्तिदाता

ओं शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा ।
शन्नऽइन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः ॥७०॥

—यजु० ३६।९॥

प्राण-तुल्य प्रिय सखा, जल-तुल्य शान्तिदाता, न्यायाधीश, परम ऐश्वर्य वाला, वाणी का पालक, संसार-रचना में उत्तम क्रम वाला व्यापक ईश्वर हमारे लिए सुख-शान्तिदायक होवे ।

वह सब पर समान कृपा करता है

ओम् अञ्जते व्यञ्जते समञ्जते क्रतुं रिहन्ति मधुनाभ्यञ्जते ।
सिन्धोरुच्छ्वासे पतयन्तमुक्षणं हिरण्यपावाः पशुमासु गृभ्णते ।।७१।।

—ऋ० ९।८६।४३।।

परमात्मा ज्ञान द्वारा गति देता है, पदार्थों को व्यक्त करता है और जीवों को कर्मानुसार जन्म देता है, उस यज्ञ-रूप को उपासक लोग ग्रहण करते हैं। वह अपने आनन्द के माध्यम से सर्वत्र प्रकट है । जो मनुष्य संसार-सिन्धु की उच्च लहरों में गिरा हुआ दयाहीन है, या जो बल स्वरूप, सदसद्-विवेकी एवं ज्ञान-दृष्टि से देखने वाला साधक है ; उन दोनों को परमात्मा अपने कृपा-भाव से ग्रहण करता है ।

ईश्वर के रुद्र-रूप को नमस्कार

ओं नमः शम्भवाय च मयोभवाय च ।
नमः शङ्कराय च मयस्कराय च ।
नमः शिवाय च शिवतराय च ।।७२।।

—यजु० १६।४१।।

प्रकृति के क्रिया-कलाप को निश्चित नियमों के दृढ़ अनुशासन में रखते हुए दण्ड-विधान द्वारा अपनी न्याय-व्यवस्था का अनुपालन कराने के कारण कठोर प्रतीत होने वाला 'रुद्र'-रूपी ईश्वर सब की सार्वत्रिक शान्ति और सुख का स्रोत है, अतः उस शान्त एवं सुखमय सत्ता को नमस्कार ! शान्ति और सुख देने वाले उस 'शङ्कर' को नमस्कार ! सब का मंगल करने वाले उस सर्वाधिक कल्याणकारी 'शिव' को नमस्कार !

ईश्वरीय न्याय-व्यवस्था के प्रति समर्पण

ओं नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये पृथिव्यां येषामन्नमिषवः ।
तेभ्यो दश प्राचीर् दश दक्षिणा दश प्रतीचीर् दशोदीचीर् दशोर्ध्वाः ।

तेभ्यो नमोऽस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥७३॥

—यजु० १६।६६॥

ईश्वर की न्यायकारी उन प्राकृतिक अनन्त रुद्र-शक्तियों के लिए नमस्कार, जो पृथ्वी पर सर्वत्र हैं, और यह दृश्यमान अन्नमय कोश जिनके बाणों या दण्ड के साधनों के समान है । दसों उंगलियां मिलाकर, उनके लिए पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर और ऊपर की ओर सभी दिशाओं में हाथ जोड़ते हैं, अर्थात् उनकी व्यवस्था को स्वीकार करते हैं । उन्हें नमस्कार हो । वे हमारी रक्षा करें । वे हमें सुखी करें । जब वे हैं, तो जिससे हम द्वेष करते हैं और जो हम से द्वेष करता है, उसे उन्हीं की तीक्ष्ण न्याय-व्यवस्था रूप जबाड़े में छोड़ दें । [अर्थात् अन्न आदि भोग्य पदार्थों के माध्यम से प्रभु की व्यवस्था द्वारा उस दुष्ट को स्वयं ही यथासमय दण्ड मिलेगा । फिर उस के कुदरती कानून को हम अपने हाथ में क्यों लें ?]

उसी की उपासना, उपस्थान और नमस्कार

ओम् उप त्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम् ।
नमो भरन्त एमसि ॥७४॥

—ऋ० १।१।७॥

हे तेजस्वी पथ-प्रदर्शक प्रभो हम सब प्रतिदिन सायं-प्रातः ध्यान द्वारा नमस्कार की भेंट लाते हुए तेरी उपासना करते हैं ।

केवल वह ही उपासितव्य

ओं मा चिदन्यद्विशंसत सखायो मा रिषण्यत ।
इन्द्रमित् स्तोता वृषणं स चा सुते मुहुरुक्था च शंसत ॥७५॥

—ऋ० ८।१।१॥

हे साधक-साथियो ! सर्वोपरि ऐश्वर्यशाली परमेश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य को इष्ट मानकर विशेष स्तुति मत करो, ऐसा करके अपनी आत्मिक शक्ति का घात न करो । [ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य को उपासितव्य, इष्ट या गुरु बनाने का निषेध यहां भी है, और योगसूत्र १।२६ में भी । अतः सदा स्व-हृदयस्थ सर्वगुरु परमात्मा का सान्निध्य ही अभीष्ट है ।]

ईश्वर द्वारा अपने अस्तित्व का आश्वासन

ओम् अयमस्मि जरितः पश्य मेह विश्वा जातान्यभ्यस्मि मह्ना ।
ऋतस्य मा प्रदिशो वर्धयन्त्यादर्दिरो भुवना दर्दरीमि ।।७६।।

—ऋ० ८।१००।४।।

ईश्वर अपनी सत्ता व सामर्थ्य से साधक को आश्वस्त करता है–हे स्तोता! मैं यह हूं, मुझे यहीं देख लो । अपनी महिमा से मैं समस्त उत्पन्न पदार्थों में सब ओर विद्यमान हूं । प्राकृतिक नियमों से परिपूर्ण समस्त दिशाएं मेरी ही महान समृद्धि को दर्शाती हैं । संहार करने वाला मैं ही लोक-लोकान्तर को प्रलय-काल में विदीर्ण करता हूं ।

ईश्वर के आनन्द और प्रकाशमय स्वरूप में समाहित हों

ओम् आ पवस्व मदिन्तम गोभिरञ्जानो अक्तुभिः ।
एन्द्रस्य जठरं विश ।।७७।।

—साम० १२०९।।

परम आनन्द-स्वरूप परमेश्वर की सर्वोत्तम आनन्द-रसधारा में निमग्न हे योग-यांजक ! तुम उस दिव्य प्रकाश की गतिशील शान्त प्रकाश-रश्मियों से सब ओर से संयुक्त होकर स्वयं को पवित्र करो । और फिर, भलीभांति ईश्वर के गहरे स्वरूप में समाहित हो जाओ ।

प्रभु-मिलनानन्द

ओं सोम रारन्धि नो हृदि गावो न यवसेष्वा ।
मर्य इव स्व ओक्ये ।।७८।।

—ऋ० १।९१।१३।।

हे योगज विशोका ! आनन्दी सोमरस–आप हमारे हृदय में बार-बार सदा लगातार रमण करते रहो । वैसे ही हम में बस जाओ जैसे गौवें ज़ौ के चरागाहों में आनन्द लेती हैं ; यां मनुष्य अपने खुद के घर में रहता है ।

[यहां 'सोम-रस का स्थान हृदय में इतना स्पष्ट कहा गया है कि इसे किसी पेय पदार्थ से भिन्न मानना ही संगत है, और वह ऐसा हार्दिक आह्लाद या

प्रसाद गुण ही हो सकता है, जो योग-साधना, भक्ति और प्रभु-प्रेम द्वारा स्वभावतः अपने भीतर संस्रवित होता है ।]

प्रभु-मिलन का सामर्थ्यदायी आनन्द

ओं स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं तीव्रः किलायं रसवाँ उतायम् ।
उतो न्वस्य पपिवांसमिन्द्रं न कश्चन सहत आहवेषु ।।७९।।

—ऋ० ६।४७।१।।

यह योगज आनन्द रस निश्चय ही स्वादिष्ठ है और बहुत ही मधुर है। इस में तीव्रता है और रसीलापन है । [**तीव्रसंवेगानामासन्नः** योग० १।२१] इस तीव्र रस को पीने वाले दस इन्द्रियों के स्वामी मन को देवासुर-संग्रामों में, विविध जीवन-द्वन्द्वों में कोई सहन नहीं कर सकता, पराजित करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता ।

प्रभु से मिलन का आनन्द

ओम् आ यद् रुहाव वरुणश्च नावं प्र यत् समुद्रमीरयाव मध्यम् ।
अधि यदपां स्नुभिश्चराव प्र प्रेङ्ख ईङ्खयावहै शुभे कम् ।।८०।।

—ऋ० ७।८८।३।।

जब मैं और आप हे वरुण देव ! एक नाव पर चढ़ चलें और उसे समुद्र के मध्य में खेकर ले जाएं ; और उसके साथ गहन गम्भीर जल की ऊंची-ऊंची लहरों पर हिलोरें लेवें, तब उस मंगलमय झूले पर सुख और आनन्द से कभी आगे जाएं और कभी ऊपर उठें ।

परमेश्वर हमारी भक्ति को स्वीकार करे और आनन्द दे

ओं दमूना देवः सविता वरेण्यो दधाद् रत्नं दक्षं पितृभ्य आयूंषि ।
पिबात् सोमं ममददेनमिष्टे परिज्मा चित् क्रमते अस्य धर्मणि ।।८१।।

—अथर्व० ७।१४।४।।

दानशील मन वाला देव सविता प्रभु वरण करने योग्य है । सन्तति-पालक माता-पिताओं के लिए वह रमणीय धन, बल और दीर्घायु प्रदान करता है । यह धरती भी उसी के धारण-सामर्थ्य में चक्कर काट रही है । वह ध्यानज-भक्तिरस का पान करे, और इस ध्यान-यज्ञ में इस साधक-ध्यानी को आनन्द-विभोर करे ।

रक्षक, आनन्दी प्रभु

ओम् अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाऽविदज्जरितारम् ।
मृडा सुक्षत्र मृडय ॥८२॥

—ऋ० ७।८९।४॥

चारों ओर उपस्थित सर्वव्यापक और आनन्दमय प्रभु की गोद में बैठा होने पर भी जब साधक कभी सांसारिक कारणों से दुःखी होने लगे, तब उसे स्वयं पर कुछ ऐसा ही आश्चर्य होता है कि 'देखो, अथाह जल में बैठे हुए मुझ स्तोता को भी प्यास लगी हुई है !' आघात और पीड़ा से परित्राण करने वाले आनन्द-स्रोत प्रभु ! आप ही मुझे बार-बार सब प्रकार के सुख-आनन्द से भर सकते हैं ।

प्रभु-मिलन-भक्ति की तुरीय अवस्था

ओं यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम् ।
स्युष्टे सत्या इहाशिषः ॥८३॥

—ऋ० ८।४४।२३॥

'हे तेजामेय प्रभु ! जब मैं तू हो जाऊं और तू निश्चयेन मैं बन जाएगा, तब तेरे आशीर्वचन मेरे लिए यहीं सत्य-सफल हो जाएंगे ।

[महर्षि दयानन्द द्वारा व्याख्यात 'द्रष्टा की स्वरूपावस्थिति' और 'ईश्वरानुभूति' की एकरूपता के प्रकाश में 'अंहबोध' वा 'अस्मिता' को मिटाने वाले इस वेद-मन्त्र के साथ महान् सन्त कबीर के ये अनमोल वचन भी स्मरणीय हैं—

जब मैं था तब हरि नहीं, हरि पायो मैं नाय ।
प्रेम-गरी अति सांकरी, ता में दुई न समाय ॥]



उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥

—गीता १५।१७॥



प्रार्थनाएं

प्रार्थनाएं सुनो प्रभु

ओ३म् वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः ।
तेषां पाहि श्रुधी हवम् ॥१॥

—ऋ० १।२।१॥

"हे प्राणमय प्रभो ! आप प्राण रूप में वायुमार्ग से मेरे भीतर प्रवेश करें। देखिये, यह सौम्य भक्तिरस मैंने सजाया है । मेरी भक्तिमय पुकार को सुनिये और रक्षा कीजिए !" [महाकवि कालिदास ने कहा है–'याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धुकामा ।' इसलिए हम आप जैसे सर्वोच्च दाता के पास आये हैं, और कहीं क्यों जाएं ?]

आराधना-हीन व्यक्ति त्याज्य है

ओं प्र सुन्वानायान्धसो मर्तो न वष्ट तद्वचः ।
अप श्वानमराधसं हता मखं न भृगवः ॥२॥

—साम० ५५३॥

जो मनुष्य शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक अन्न को उत्पन्न करने वाले प्रभु के लिए स्तुति-वचनों का उच्चारण नहीं करना चाहता उस आराधना-हीन को अपनी संगति से कुत्ते की तरह परे रखो । ध्यान-साधना में परिपक्व उपासक (भृगुसाधक) चंचल राजसी वृत्ति वाले व्यक्तियों को साथ नहीं रखता ।

प्रार्थना से सहायता प्राप्त होती है

ओं कण्वा इन्द्रं यदक्रत स्तोमैर्यज्ञस्य साधनम् ।
जामि ब्रुवत आयुधम् ॥३॥

—ऋ० ८।६।३॥

साधक जन जब परमात्मा को स्तोत्र द्वारा यज्ञ सिद्ध करने वाला बना लेते हैं, तब उपासक को कोई भी शस्त्र हानि नहीं पहुंचा सकता । अर्थात् उसकी रक्षा स्वतः हो जाती है । अथवा वे साधक जीवन-संग्राम में सहायक बनने वाले (आयुध-भूत) ईश्वर को सम्बन्धी या भाई ही कहते हैं ।

प्रार्थना की प्रेरणा

ओं प्र व इन्द्राय बृहते मरुतो ब्रह्मार्चत ।
वृत्रं हनति वृत्रहा शतक्रतुर्वज्रेण शतपर्वणा ॥४॥

—ऋ० ८।८९।३॥

हे उपासक-जनो ! तुम उस महान् परमेश्वर की वेदवाणी से स्तुति करो । वह सैकड़ों कर्मों व ज्ञानों का अध्यक्ष, तथा विघ्नकारी का विध्वंसक है । वही तुम्हारे अज्ञान को शतमुखी ज्ञान-वज्र से नष्ट कर देगा । [अज्ञान-रूपी वृत्र को पौराणिक कथाओं में किसी राक्षस के रूप में देखने का भाव है कि अज्ञान ही हमें यज्ञ आदि सभी श्रेष्ठ कर्मों के परिचय और उपयोग से परे रखता है ।]

आपकी कृपा से पवित्र होकर पवित्र प्रार्थनाएं करें

ओं गोवित् पवस्व वसुविद्धिरण्यवद्रेतोधा इन्दो भुवनेष्वर्पितः ।
त्वं सुवीरो असि सोम विश्ववित् तं त्वा विप्रा उप गिरेम आसते ॥५॥

—ऋ० ९।८६।३९॥

हे परमात्मन् ! आप विज्ञानी, ऐश्वर्य-सम्पन्न तथा प्रकाश-स्वरूप हैं । हमें अपने ज्ञान, ऐश्वर्य और तेज से पवित्र कीजिए । आप प्रजा के बीज-रूप सामर्थ्य को धारण करने वाले हैं । आप संसार में व्याप्त, सर्वोपरि-बलयुक्त, सर्वोत्पादक-सोम तथा सर्वज्ञाता हो । उक्त गुण वाले आपकी ये विद्वान् लोग वेदवाणियों के अनुसार प्रार्थना उपासना करते हैं ।

वैदिक मन्त्रों द्वारा इन्द्रिय, मन व प्राण-पोषण

ओम् ऋचं वाचं प्र पद्ये मनो यजुः प्र पद्ये साम प्राणं प्र पद्ये ।
चक्षुः क्षोत्रं प्र पद्ये । वागोजः सहौजो मयि प्राणापानौ ॥६॥

—यजु० ३६।१॥

मुझे स्तुति करने योग्य ऋग्वाणी प्राप्त हो । मेरे मन को कर्म की प्रेरणा देने वाला यजुर्वेद का ज्ञान प्राप्त हो । प्राणायाम योगाभ्यास आदि उपासना के साधक सामवेद की ईश्वरीय उपासना मुझे प्राप्त हो । मुझे उत्तम नेत्र व श्रोत्र प्राप्त हों । वाणी की ओजस्विता के साथ मुझे शारीरिक ओज-बल भी प्राप्त हों, जिससे मेरे प्राण-अपान पुष्ट हों ।

यौगिक योग-क्षेम में शान्ति और कल्याण

ओम् अयं सु तुभ्यं वरुण स्वधावो हृदि स्तोम उपश्रितश्चिदस्तु ।
शं नः क्षेमे शमु योगे नो अस्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥७॥

—ऋ० ७।८६।८॥

हे वरणीय अन्न आदि के दाता ! आप को हमारी यह आत्म-हवि स्वीकार हो । मेरे हृदय-कमल में आपकी स्तुति-रूप प्रार्थना की समीपता भी निरन्तर अनुभव होती रहे । हम प्राप्त योग-भूमियों की रक्षा (=क्षेम) शान्तिपूर्वक करें, एवम् अग्राह्य योग-भूमियों की प्राप्ति होने पर भी शान्त रहें । आप सब स्नेही विद्वज्जन भी सदा कल्याण-वचनों द्वारा हमारी रक्षा करें ।

सुख की प्रार्थना

ओं त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ ।
अधा ते सुम्नमीमहे ॥८॥

—ऋ० ८।९८।११॥

हे सब को बसाने वाले परमेश्वर ! आप ही हमारे सच्चे पिता हैं, असंख्य कर्मों में अपनी प्रज्ञा से प्रेरणा देने वाले आप ही हमारा निर्माण करने वाली माता के समान हैं । इसलिए हम आपसे अनन्त सुख की इच्छा रखते हैं । ['सुखों का निषेध कर अनिष्ट कष्टों को आमन्त्रित करने वाली तपस्या' अभीष्ट न होकर वेद को लोक-परलोक-उभयत्र आनन्द ही अंगीकरणीय है ।]

पोषण-प्रार्थना

ओं स्वादो पितो मधो पितो वयं त्वा ववृमहे ।
अस्माकमविता भव ॥९॥

—ऋ० १।१८७।२॥

हे परमात्मन् ! आप के रचे स्वादु जल तथा मधुर पालना करने वाले अन्न का हम लोग सेवन करते हैं, आप उस अन्न-दान से हमारी रक्षा कीजिए।

अग्नि-रूप ईश्वर से रक्षा की प्रार्थना

ओं विश्वेदेवा अनमस्यन् भियानास्त्वामग्ने तमसि तस्थिवांसम् ।
वैश्वानरो अवतु ऊतये नो अमर्त्यो अवतु ऊतये नः ॥१०॥

—ऋ० ६।९।७॥

सभी देवगण अर्थात् सभी इन्द्रियां, हे आत्म-तेज-रूप अग्नि ! तुझे अन्धेरे आवरण में आच्छादित, उसी में स्थित देखकर भयभीत होकर नमस्कार कर रहे हैं। उनकी यही पुकार है कि 'सब का नायक यह प्रभु-वैश्वानर हमारे कल्याण के लिए हमारी रक्षा करे। वह अमरणशील हमें उन्नत करने के लिए हमारी रक्षा करता रहे।' [भाव यह है कि चंचलता से उत्पन्न तामसिक प्रभाव को अपने आत्म-तेज से ही हटाना है।]

कर्मयोग की कामना

ओं देवस्य सवितुः सवे कर्म कृण्वन्तु मानुषाः ।
शंनो भवन्त्वप ओषधीः शिवा ॥११॥

—अथर्व० ६।२३।३॥

हम सभी मनुष्य दिव्य प्रेरक प्रभु सविता के अनुशासन में कर्म करते रहें। हमारी सभी क्रियाएं शान्तिपूर्ण हों, और सभी अन्न आदि पदार्थ मंगलमय हों।

कर्मयोग से ऐश्वर्य पर विजय पाऊं

ओं कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः ।
गोजिद् भूयासमश्वजिद् धनंजयो हिरण्यजित् ॥१२॥

—अथर्व० ७।५०।८॥

मेरे दाहिने हाथ में मेरा कर्म है और बायें हाथ में विजय स्थित है। निश्चय ही मैं इन्द्रियों को जीतूंगा, अश्व आदि पशु, धन और स्वर्ण सभी पर मेरी जीत होगी। [संसार से पलायन का भाव ऋषियों को मान्य नही है। 'वैराग्य' को भोगों से भागने के अर्थ में वेद नहीं मानता। इन सब पर अधिकारी और विजयी होने का सन्देश ही देता है **'वयं स्याम पतयो रयीणाम्'** ।]

प्रभु हमें पवित्र करें

ओं येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुनते सदा।
तेन सहस्त्रधारेण पावमानीः पुनन्तु नः ॥१३॥

—साम० १३०२॥

देव-कोटि के लोग जिस पवित्र परमेश्वर के द्वारा सदा अपनी आत्मा को निर्मल करते हैं, हजारों लोक-लोकान्तरों को धारण करने वाले उस परमेश्वर के ज्ञान द्वारा पवित्र करने वाली ऋचाएं हमें पवित्र करें।

मेधा की कामना

ओं या मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥१४॥

—यजु० ३२।१४॥

दिव्य गुण युक्त योगी तथा हमारे पूर्वज जिस पवित्र मेधा-बुद्धि की उपासना करते हैं, उसी मेधा से मुझे मेधावी बना दीजिए, और सत्य वाणी युक्त कीजिए।

कल्याण के लिए मैं दिव्य प्रेरणामयी सुमति का वरण करता हूं

ओं तां सवितः सत्यसवां सुचित्रामहं वृणे सुमतिं विश्ववाराम् ।
यामस्य कण्वो अदुहत् प्रपीनां सहस्त्रधारां महिषो भगाय ॥१५॥

—अथर्व० ७।१५।१॥

हे सब के प्रेरक सविता प्रभु ! मैं सत्य-को प्रेरित करने वाली, सब के द्वारा वरणीय आप की अद्भुत व्यापक सुमति दैवी प्रज्ञा का वरण करता हूं। प्रत्येक महान् मेधावी पुरुष ने उसी परिपक्व ईश्वरीय प्रज्ञा का सौभाग्य व आत्म-मंगल के लिए दोहन किया है, जो सहस्त्रों को धारण करने वाली है एवं सहस्त्रों धाराओं में सर्वत्र बहने वाली स्त्रोतस्विनी है।

प्रभु हमें आध्यात्मिक ऐश्वर्य दें

ओं किमङ्ग त्वा मघवन् भोजमाहुः शिशीहि मा शिशयं त्वा शृणोमि ।
अप्नस्वती मम धीरस्तु शक्र वसुविदं भगमिन्द्रा भरा नः ॥१६॥

—ऋ० १०।४२।३॥

हे अध्यात्म-धन वाले परमात्मन् तुझे मेधावी जन भोगदाता क्यों कहते हैं ? उत्तम कर्म में मुझे उत्साहित कीजिए । सुना है, आप सब को उत्साह देते हैं । हे शक्र ! मेरी बुद्धि क्रियाशील हो । हमारे लिए समस्त धनों को प्राप्त कराने वाले अध्यात्म-ऐश्वर्य को सब ओर से हमारे भीतर भर दीजिए ।

आलस्य नहीं, ऐश्वर्य दो

ओं यच्चिद्धि सत्य सोमपा अनाशस्ता इव स्मसि ।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्त्रेषु तुवीमघ ॥१७॥

—ऋ० १।२९।१॥

हे प्रशंसनीय धनयुक्त उत्तम पदार्थों के रक्षक अविनाशी परमात्मन् ! जो कभी हम साधक आलस्य के कारण अश्रेष्ठ हो जाते हैं, तो हमें आलस्य से छुड़ाकर गौ, अश्व आदि सुख देने वाले सहस्त्रों प्रकार के असंख्य ऐश्वर्य प्राप्त करा के प्रशंसित कीजिए ।

प्रार्थना प्रभु-मिलन की

ओम् उत स्वया तन्वा३ संवदे तत्कदा न्वन्तर्वरुणे भुवानि ।
किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृळीकं सुमना अभिख्यम् ॥१८॥

—ऋ० ७।८६।२॥

साधक प्रबल उत्सुकता-पूर्वक जिज्ञासा करता है कि वह समय कब आयेगा, कब अपने शरीर से उस उपास्य ईश्वर के साथ भली प्रकार आलाप करूंगा ? कब निश्चय करके उस उपास्य के आनन्दमय स्वरूप में प्रवेश करूंगा ? क्या परमात्मा प्रसन्न होकर मेरी उपासना रूप भेंट को स्वीकार करेंगे ? और कब उस सर्व सुखदाता परमेश्वर को सुसंस्कृत पवित्र मन से सब ओर ज्ञानगोचर करूंगा ? [प्रभु-मिलन की ऐसी उत्कण्ठा इस मन्त्र के ऋषि को 'तीव्र-संवेगी' योग-साधक दर्शाती है ।]

प्रभो हमें शूरता दीजिए

ओं विदा राये सुवीर्यं भवो वाजानां पतिर्वशाँ अनु ।
मंहिष्ठ वज्रिन्नृञ्जसे यः शविष्ठः शूराणाम् ॥१९॥

—साम० ६४४॥

हे प्रभो ! आध्यात्मिक सम्पत्तियों की प्राप्ति के लिए हमें उत्तम वीर्य-शक्ति प्रदान कीजिए । आप अपने उपासकों को अपने दर्शनों की अनुभूति प्रदान कीजिए । या उनकी अभिलाषाओं को पहचानिए । हे प्रभो ! पापों के प्रति वज्रधारी आप निःसन्देह महाबली हैं, और शूर-वीरों में सर्वश्रेष्ठ हैं ।

हमें बुराई से लड़ने की ऊर्जा मिले

ओम् आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन ।
महे रणाय चक्षसे ॥२०॥

—साम० १८३७॥

हे सर्वव्यापक परमेश्वर ! आप निश्चय ही सुख शान्तिप्रदाता हैं । आप ब्रह्म की प्राप्ति तथा प्राण-शक्ति की परिपुष्टि के लिए धारण-पोषण कीजिए । साथ ही आसुरी शक्तियों से लड़ने के लिए आप हमें प्रेरित करें ।

हम अपने दोषों के गुलाम न रहें

ओं वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः ।
यो अस्माँ अभिदासत्यधरं गमया तमः ॥२१॥

—साम० १८६८॥

हे परम ऐश्वर्यशालिन् ! काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि उन दूषित भावों को जो हम पर आक्रमण कर हमारा अधःपतन कराते हैं, जिन्होंने हमें अपना दास बना लिया है, उन्हें कृपया क्रम से नष्ट कर दो, हम से दूर करो ।

हममें भय वा अज्ञान न हो

ओम् अदिते मित्र वरुणोत मृळ यद्वो वयं चकृमा कच्चिदागः ।
उर्वश्यामभयं ज्योतिरिन्द्र मा नो दीर्घा अभि नशन्तमिस्राः ॥२२॥

—ऋ० २।२७।१४॥

हे अखण्डित मित्र-स्वरूप तथा दण्ड-विधायक सर्वद्रष्टा वरुण-प्रभो ! आप हमें सुखी कीजिए । यदि हम आपका कोई अपराध कर बैठें तो आप उसे क्षमा करें । मैं निर्भय विवेक-ज्योति को पाऊं । हमारे अज्ञान-अन्धकार की रातें लम्बी न होकर नष्ट हो जाएं ।

हम निरपराध बनें

ओं यो मृळयाति चक्रुषे चिदागो वयं स्याम वरुणे अनागाः ।
अनु व्रतान्यदितेर्ऋधन्तो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥२३॥

—ऋ० ७।८७।७॥

जो परमात्मा अपराध करने वाले के प्रति भी दया बनाये रखता है, उस दण्ड विधायक वरुण रूप सर्वनियन्ता परमात्मा के समक्ष हम अपराधहीन बने रहें। उसके अखण्डनीय नियमों के अनुसार आचरण करते हुए हम प्रार्थना करें कि हे परमात्मन् ! आप अपने मंगल भावों से सदा हमारी रक्षा करें ।

हे पवित्र सोम ! रक्षक व पापनाशक बनो

ओम् अवा कल्पेषु नः पुमस्तमांसि सोम योध्या ।
तानि पुनान जङ्घनः ॥२४॥

—ऋ० ९।९।७॥

हे सब को पवित्र करने वाले सौम्य परमात्मा ! आप सब अवस्थाओं में हमारी रक्षा करें । हमारे अज्ञानं-अन्धकार के तथा युद्ध या गहन संघर्ष द्वारा निवारण-योग्य जितने दोष हैं उन सब का हनन कीजिए ।

प्रभु हमें उपभोग करना सिखाइए

ओं यो अर्यो मर्तभोजनं परादाति दाशुषे ।
इन्द्रोऽअस्मभ्यं शिक्षतु वि भजा भूरि ते वसु भक्षीय तव राधसः ॥२५॥

—ऋ० १।८१।६॥

परमैश्वर्य-दाता ईश्वर दानशील मनुष्यों के लिए पर्याप्त भोजनार्थ पदार्थ देता है । हे इन्द्र ! आप हम को उन पदार्थों की शिक्षा दीजिए और अपने विशाल वैभव का स्वयं विभाजन कीजिए, जिससे हम उनका सम्यक् सेवन कर सकें ।

हम संशय से दूर हों

ओं मा नो रक्षो अभिनड्यातुमावतामपोच्छतु मिथुना या किमीदिना।
पृथिवी नः पार्थिवात् पात्वंहसोऽन्तरिक्षं दिव्यात्पात्वस्मान् ॥२६॥

—ऋ० ७।१०४।२३॥

ईश्वर के ज्ञान में संशय करने वाले, अर्थात् 'यह क्या है ?' ऐसी शंका करने वाले राक्षस-प्रवृत्ति के जन हम से दूर हो जाएं। तथा यह भूलोक और द्युलोक क्रमशः पार्थिव एवं दिव्य पदार्थों की अपवित्रता से हमारी रक्षा करें।

ओं प्र सु स्तोमं भरत वाजयन्त इन्द्राय सत्यं यदि सत्यमस्ति ।
नेन्द्रो अस्तीति नेम उ त्व आह क ईं ददर्श कमभि ष्टवाम ॥२७॥

—ऋ० ८।१००।३॥

हे मनुष्यो ! यदि वेदों तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा तुम्हारे मन में ईश्वर की सिद्धि हुई है, तो आप परमेश्वर को लक्षित करके स्तुति-समूह को समर्पित करो। परन्तु जो शङ्कालु है वह कहता है कि, उस परमसत्ता को किसने देखा है ? किसकी स्तुति करें ? ऐसा संशयग्रस्त व्यक्ति अविज्ञानी है।

पावन प्रभु हमारी पुकार सुनें

ओं तं त्वा गोपवनो गिरा जनिष्ठदग्ने अङ्गिर ।
स पावक श्रुधी हवम् ॥२८॥

—साम० २९॥

हे समग्र शरीर के रस-रूप प्रभो ! वेद-वाणियों द्वारा इन्द्रियों को पवित्र करने वाले उपासक को पूर्ण सामर्थ्यवान् बनाइये। हे परम पावन प्रभो ! मुझ उपासक की पुकार अवश्य सुनिए।

देवासुर-संग्राम में ईश्वर हमारी अच्छाई की रक्षा करे

ओम् ऊर्ध्वस्तिष्ठा न ऊतयेऽस्मिन्वाजे शतक्रतो ।
समन्येषु ब्रवावहै ॥२९॥

—साम० १६०१॥

असंख्य शुभ-कर्म करने वाले हे प्रभो ! इस देवासुर-संग्राम में शरीरस्थ

अच्छी बुरी प्रवृत्तियों, भावों या विचारों के संघर्ष में हमारी रक्षा के लिए आप अधिष्ठाता बन हमारी रक्षा कीजिए ।

ओम् अभि गोत्राणि सहसा गाहमानोऽदयो वीरः शतमन्युरिन्द्रः।
दुश्च्यवनः पृतनाषाड युध्यो३ऽस्माकं सेना अवतु प्र युत्सु ॥३०॥

—साम॰ १८५१॥

हे प्रभो ! आप अपराजित हैं, और पापियों पर क्रोध करके उनके सुदृढ़ गढ़ों को भी नष्ट कर देते हैं । अतः आप इस देवासुर-संग्राम में हम उपासकों की सर्वथा रक्षा कीजिए ।

ओम् इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः ।
देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम् ॥३१॥

—साम॰ १८५२॥

हे प्रभो ! हम वायु आदि जड़-देवों से शक्ति, तथा आचार्य उपदेशक आदि विद्वानों की संगति से उनका आशीर्वाद प्राप्त कर चुके हैं । ज्ञान व भौतिक धन का सुपात्र में दान भी करते हैं, तथा सर्वात्मना आपको आत्म-समर्पण कर चुके हैं । हमारी दैवी शक्तियां पाप-सेनाओं के व्यूहों को तोड़ती आगे बढ़ रही हैं । अतः हमारे सेनापति बन कर आप हमारी सहायता कीजिए, जिससे आपकी सहायता से हमारी श्रेष्ठ सेनाएं धैर्य से आगे बढ़ सकें । आप तो देवसेना के अग्रणी नेता हो । आप की अनन्त ओजस्वी ललकार के आगे पाप-सेनाएँ नहीं ठहर सकतीं ।

हे प्रभु ! मुझे अपनी शक्तियां प्रदान करो

ओं तेजोऽसि तेजो मयि धेहि । वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि।
बलमसि बलं मयि धेहि । ओजोऽस्योजो मयि धेहि ।
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि । सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥३२॥

—यजु॰ १९।९॥

[हे ईश्वर ! धारणा, ध्यान और समाधि की उच्च अवस्था में जब मैं आपके गुणों का चिन्तन करता हूं तब अपने शरीर की शक्तियां बहुत सामान्य प्रतीत होती हैं । अतः मेरी आपसे प्रार्थना है कि—] आप अनन्त तेज के भण्डार हैं, मुझे भी तेजस्वी बनाओ । आप का उत्साह असीम है, मुझे भी उत्साह प्रदान करो । हे प्रभो ! आप अतुल बल के अधीश्वर हो, मुझे भी बलशाली बनाओ । प्रभो ! आपकी ओजशक्ति सर्वत्र

प्रकाशित हो रही है। मुझे भी ओज शक्ति से ओजस्वी बनाओ। देव ! आपका रौद्र-रूप मन्यु पापियों को पाप से डराता है। वह अपनी मन्यु-शक्ति मुझे भी प्रदान करो। हे दयालो ! आपकी सहनशीलता अनन्त है, कृपया मुझे भी सहनशील बनाओ, [जिससे उक्त गुणों को धारण कर अपना जीवन सफल बनाता हुआ परोपकार कर सकूं।]

यज्ञ के लिए उत्तम मन की प्रार्थना

ओम् आ नऽएतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे ।
ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥३३॥

—यजु० ३।५४॥

संस्कारों का संग्रह करने वाली चिन्ता तथा निश्चय करने वाली बुद्धि निरन्तर कार्यरत रहती है। इसी से हम परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त कर पाते हैं। इसी से भौतिक पदार्थ, सूर्य-लोक एवं प्राण को देखने की विद्या तथा उत्तम विद्या और सत्यासत्य कर्मों को करते हुए सौ वर्ष तक जीने के साधन प्राप्त करते हैं। यज्ञादि शुभ गुणों से युक्त ऐसा चित्त हमें प्रत्येक जन्म में प्राप्त हो।

इस योग-यज्ञ से मैं समग्रतः समर्थ बनूं

ओं प्राणश्च मेऽपानश्च मे ध्यानश्च मेऽसुश्च मे
चित्तं च म आधीतं च मे वाक् च मे मनश्च मे चक्षुश्च मे
श्रोत्रं च मे दक्षश्च मे बलं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥३४॥

—यजु० १८।२॥

हे सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ! आपकी कृपा से एवं योगानुष्ठान से मेरा प्राण अपान, व्यान, समान, उदान और नागादि उपप्राण बलिष्ठ एवं सामर्थ्यवान् होवें। प्राणायामादि यौगिक क्रियाओं से मेरी स्मरण शक्ति बुद्धि एवं निश्चयवृत्ति की रक्षा हो तथा मेरी वाणी पवित्र होवे। मेरा बोलना, सुनना, सामर्थ्य से युक्त हो। मेरा मन, संकल्प-विकल्प करने वाली वृत्ति, अहंकार, नेत्र, कान, चतुरता, सामयिक प्रतिभा, मेरा बल पराक्रम यौगिक धर्माचरण से युक्त हो।

ओम् ओजश्च मे सहश्च मऽआत्मा च मे तनूश्च मे
शर्म च मे वर्म च मेऽङ्गानि च मेऽस्थीनि च मे परूंषि च मे
शरीराणि च मऽआयुश्च मे जरा च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥३५॥

—यजु० १८।३॥

हे ईश्वर ! योग के विविध आसन, प्राणायाम, धारणा, तथा ध्यान की क्रियाओं के नियमित करने से मुझे ओज की प्राप्ति हो, सहनशीलता को धारण कर आत्मबोध हो जाय। मेरे तीनों शरीरों के अङ्ग-प्रत्यङ्ग और हड्डियां मर्मस्थान स्वस्थ-सबल और योग करने के लिए समर्थ बने रहें। इस प्रकार मेरी पूरी आयु योगमय व्यतीत हो। अन्त में वृद्धावस्था योगमय सामर्थ्य से सुखमय व्यतीत हो।

ईश्वरीय शक्तियों का संवर्धन प्रकृति माता के सन्निध्य में होता है

ओं येभ्यो माता मधुमत् पिन्वते पयः पीयूषं द्यौरदितिरद्रिबर्हाः।
उक्थशुष्मान् वृषभरान्त्स्वप्नसस्ताँ आदित्याँ अनुमदा स्वस्तये ॥३६॥

—ऋ० १०।६३।३॥

उन दिव्य शक्तियों को विश्वेदेवा कहते हैं। उन्हें जननी के समान अदिति=अखण्डनीया मूलप्रकृति=आद्या मां मधु-पूरित दूध जैसे पोषक तत्त्वों या गुणों से निरन्तर सींचती रहती है।

पर्वत-सरीखी दृढ़ता और महान्ता का स्वामी प्रकाश-पुञ्ज-रूप द्यौलोक जनक की भांति उन दिव्य शक्तियों को अमृत से सींचता है। ऐसे इन शक्ति-सिंचित आदित्यों का बल माना हुआ है, वे वर्षणशील हैं, और शुभ-कर्मों के प्रेरक हैं। अपने कल्याण के लिए हम उनका अनुसरण करें।

हम प्रकृति-माता और प्रकृति-प्रेमियों के समीप रहें

ओं सम्राजो ये सुवृधो यज्ञमाययुरपरिह्वृता दधिरे दिवि क्षयम्।
ताँ आ विवास नमसा सुवृक्तिभिर्महो आदित्याँ अदितिं स्वस्तये ॥३७॥

—ऋ० १०।६३।५॥

शरीर-त्रय एवं कोश-पञ्चक को सम्यक् विकसित करने वाले जो साधक भलीभांति उन्नतिशील हुए योग-यज्ञ-रूप सत्कार्यों को पूरा करते हैं, वे किसी भी विघ्न-बाधा से हारे बिना प्रकाश-युक्त स्थानों में, स्थितियों में बने रहते हैं। उन आदित्य-पदवी-प्राप्त महापुरुषों को नमस्कार एवं स्तुति-वचनों द्वारा हम अपने आस-पास और हृदय में बसाएं, तथा अपने समग्र कल्याण के लिए उनकी जननी मूल-प्रकृति – मां अदिति के भी निकट रहें। [प्राकृतिक जीवन जीने की स्पष्ट कामना इन दोनों मन्त्रों में अभिव्यक्त हुई है।]

जीवन्मुक्ति के लिए बन्धन काटो

ओम् उदुत्तमं मुमुग्धि नो विपाशं मध्यमं चृत ।
अवाधमानि जीवसे ॥३८॥

—ऋ० १।२५।२१॥

हे वरण करने योग्य परमेश्वर ! मन, बुद्धि से किये जाने वाले दुश्चिन्तन एवं चित्त में विद्यमान अशुभ संस्कार रूप सूक्ष्म बन्धनों से मुक्त कीजिए । ज्ञानेन्द्रियों के दोष रूपी मध्यम बन्धनों को काटिए । जीवन के कल्याण अथवा जीवन्मुक्ति के लिए कर्मेन्द्रियों के निकृष्ट कर्म रूपी पाशों को भी विनष्ट कीजिए ।

जीवन्मुक्ति की प्रार्थना

ओम् अभी नो अर्षि दिव्या वसून्यभि विश्वा पार्थिवा पूयमानः।
अभि येन द्रविणमश्नवामाभ्यार्षेयं जमदग्निवन्नः ॥३९॥

—ऋ० ९।९७।५१॥

हे सर्वोत्पादक परमात्मन् ! आप शुद्ध-स्वरूप मोक्षरूप दिव्यधन हमें प्रदान कीजिए । साथ ही सम्पूर्ण पृथिवी-सम्बन्धी धन भी आप हमें दें । चक्षु की दिव्य दृष्टि के समान जिस समाधि से हम ऋषियों के योग्य मोक्ष-धन को भोग सकें, वह समाधि आप हमें दीजिए ।

शान्ति की, पाप नाश की कामना

ओं पृथिवी शान्तिर् अन्तरिक्षं शान्तिर्द्यौः शान्तिर् आपः शान्तिर् ओषधयः शान्तिर् वनस्पतयः शान्तिः । विश्वे मे देवा शन्तिः सर्वे मे देवाः शान्तिः शान्तिः शान्तिः शान्तिभिः ताभिः शान्तिभिः सर्वशान्तिभिः शमयामोऽहं यदिह घोरं यदिह क्रूरं यदिह पापं तच्छान्तं तच्छिवं सर्वमेव शमस्तु नः ॥४०॥

—अथर्व० १९।९।१४॥

इन सब स्थानों पर शान्ति का साम्राज्य हो :—पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक । विस्तृत जलीय तत्त्व, ओषधियों और वनस्पतियों में शान्ति हो । मेरे शरीर में प्रविष्ट तथा बाहर विद्यमान सभी दिव्य शक्तियां शान्तिकारक हों । आध्यात्मिक,

आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक इन तीनों शान्तियों से हम संयुक्त रहें। इन शान्तियों से तथा अन्य सभी सार्वत्रिक शान्तियों से हम शान्तभाव को प्राप्त कर सकें। जो भी कोई घोर अपराध या क्रूर कर्म, अथवा भयंकर पाप हम से यहां हुआ हो, वह शान्त हो। हमारे कर्म कल्याणकारी हों। हमारे सब ओर सब तरह की शान्ति हो।

शान्ति-प्राप्ति की प्रार्थना

ओं द्यौः शान्तिर् अन्तरिक्षꣳ शान्तिः, पृथिवी शान्तिर् आपः शान्तिर्, ओषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्, विश्वेदेवाःशान्तिर्, ब्रह्म शान्तिः, सर्वꣳ शान्तिः। शान्तिर् एव शान्तिः। सा मा शान्तिरेधि ॥४१॥

—यजु० ३६।१७॥

ये सब शान्तिकारक सुखद व निरुपद्रव हों—द्युलोक, अन्तरिक्ष, पृथिवी, जल व प्राण, औषधियां, वनस्पतियां, सभी विद्वान् जन और दिव्य शक्तियां, वेद-ज्ञान और समस्त वस्तु-समूह। शान्ति ही शान्ति हो। वह व्यापक शान्ति मुझे प्राप्त हो।

॥ ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥



परिशिष्ट—१

मन्त्रानुक्रमणिका

अ

आ

इ-ई

उ-ऊ

ऋ

ए-ओ

क

द

ध

न

प

य

र

व

श

स

ह

परिशिष्ट—२

मन्त्र-पद्यानुवाद

ईश्वर-स्तुति प्रार्थनोपासना

महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा किये अर्थों के भावानुसार शिखरिणी छन्द में कविता—

१— ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद् भद्रं तन्न आ सुव ॥

—यजु० अ० ३०। मं० ३॥

पद्य— सभी ऐश्वर्यों के, सकल सुख दाता शुभ करो,
हमारे भावों से, व्यसन दुःख-दावानल हरो ।
स्वभावों कर्मों को, परम हितकारी नित करो,
गुणों के विज्ञाता, सविनय विधाता गुण भरो ॥

२— ओं हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

—यजु०१३।१४॥

प्रकाशों में तेरी, अभिनव छटा है छलकती,
धरा-द्यौ लोकों को, नभ उदर में धारण किया ।
रचाया माया को, रचकर सभी में रम रहे,
जपें योगाभ्यासी, यम-नियम पालें, भज रहे ॥

३— ओं य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

—यजु० २५।१३॥

करो आत्मज्ञानी, विपुल बलदानी बल भरें,
जिसे ध्यानी ध्यावें, बुधजन प्रशंसा नित करें ।
कृपा पा के योगी, अमर पथगामी सुख भजें,
भुलाते जो भोगी, भव-समर में जी-मर रहें ॥

४– **ओं यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव ।**
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

--यजु० २३।३॥

अप्राणी प्राणी वा, सब जगत् पै राज्य करते,
दुपाये चौपाये, विविध रचना से तन रचे ।
सभी के कर्मों का, फल-विफल दे न्याय करते,
सुखों के स्वामी को, यजन कर भेंटें धर रहे ॥

५– **ओं येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः ।**
योऽअन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

—यजु० ३२।९॥

विशाला द्यावा भू, सृजनकर धारे वह प्रभु,
रचाता स्वर्गों को, अमर पद दाता जग विभु ।
घुमाता लोकों को, नियमित नियन्ता नियम से,
सभी सामर्थ्यों से, शरण हम चाहें नमन से ॥

६– **ओं प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव ।**
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥

—ऋ० १०।१२।१०॥

प्रजा के हो स्वामी, सब जगत् नामी तुम विभो,
नहीं कोई पाता, भुवनभर में गौरव-गुरो ।
करें जो भी वाञ्छा, उचित फल पावें शरण में,
दया तेरी पा के, विपुल धन स्वामी हम बनें ॥

७– **ओं स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।**
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥

—यजु० ३२।१०॥

सखा से प्यारे हो, जनक सम पालो जगत् को,
निवासों नामों को, जग-जनन जानो मरण को ।
मनीषी मुक्तात्मा, अमर पद पा के रम रहे,
उसी दिव्यात्मा को, विकल ऋषि-योगी भज रहे ।।

ओम् अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम ।।

—यजु० ४०।१६।।

स्वयं ज्योतीरूपा, अतुल बल-विद्याधर गुरो,
विकासी विज्ञानी, हम सुपथगामी बन विभो ।
कुचालों पापों को तज विनत सेवाव्रत वरें,
प्रशंसा श्रद्धा से, विनय बहुवारं हम करें ।।

भोजन से पूर्व बोला जानें वाला मन्त्र

ओम् अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः ।
प्र प्रदातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ।।

—यजु० ११।८३।।

[वसन्ततिलका छन्द में कवितामय भाव]

दाता हमें मधुर अन्न दिया दयालो ।
हो रोग-नाशक सदा बलदा कृपालो ।।

स्वादिष्ठ भोजन विशेष पका खिलाता ।
सौभाग्यपूर्ण उसका धन हो विधाता ।।

पायें मनुष्य फल-अन्न क्षुधानुसारी ।
चारा विशेष पशु खाकर शक्तिधारी ।।

खाद्यान्न सात्त्विक मिले, मति योगकारी ।
ऐसी कृपा फलवती कर 'दिव्य'-धारी ।।

शिवसंकल्पसूक्त

शयनकालीन प्रार्थना मन्त्रों का पद्यात्मक भाव

हे प्रभो ! ये मन मेरा संकल्प शुभ करता रहे ॥ ध्रुव ॥

जागते यह दूर जाता, स्वप्न में भी भागता ।
देवमन गुणधार करके ज्योति को पाता रहे ।।१।।

यक्ष-मन से ही मनीषी, कर्म याज्ञिक कर रहे ।
कर्म-इन्द्रिय का अधीक्षक, धीरता धरता रहे ।।२।।

बुद्धि से जो कर्म करके, चित्त ने संग्रह किये ।
वासनाओं का समर्पण, ध्यान में करता रहे ।।३।।

जिस धृति की शक्ति से सब काम पूरे हो रहे ।
योगियों की भांति इन्द्रिय, प्राण वश करता रहे ।।४।।

हो चुके जो कर्म, आगे भी किये ही जा रहे ।
योगयज्ञों का प्रसारक, भ्रान्ति को तजता रहे ।।५।।

ज्ञान वैदिक मन में रहता, रथ में ज्यों आरे लगे ।
ईश-शक्ति केन्द्र यह, अज्ञान को हरता रहे ।।६।।

इन्द्रियों का सारथी बन, लक्ष्य पर ले जा रहा ।
बस हृदय में वेग वाला, भद्रता भरता रहे ।।७।।

हो सजग प्रभु कर सुरक्षा, हम सभी हैं सो रहे ।
'दिव्य' तेरी प्रेरणा से फूलता-फलता रहे ।।८।।

–दिव्यानन्द सरस्वती

[इस सूक्त के छह मन्त्रों का पाठ इस ग्रन्थ में पीछे पृष्ठ ८९-९० पर 'मनोमय कोश' के अन्तर्गत देखिये । तथा ८ वां पद्य आगे पृष्ठ १८८ पर दिये 'रक्षक-अग्नि' शीर्षक के नीचे दिये मन्त्र का भावानुवाद है]

मन्त्र-छाया

वेदव्रत 'आलोक'

अग्नि-शक्ति की उपासना

ओ३म् अग्निम् ईडे पुरोहितम्, यज्ञस्य देवम् ऋत्विजम् ।
होतारम् रत्नधातमम् ॥१॥

—ऋ० १।१।१॥

नमन स्तवन उस अग्नि देव का !

जो सबके पहले स्थित रहता ।
सदा सभी का हित ही करता ॥

वही देव है सृष्टि-यज्ञ का ।
और मनुज के इष्ट-कर्म का ॥

सब ऋतुओ में वही पूज्य है ।
आहुतियों का भक्षण करता ।
सूक्ष्म बनाकर रूप बदल कर ।
हमें दे रहा, देता रहता ॥

मूल्यवान् रत्नों मणियों को ।
जगभर के रमणीय तत्त्व को ।
धारण करने में सर्वोत्तम ।
नमन स्तवन उस अग्निदेव का ॥

ओम् अग्निः पूर्वेभिः ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत ।
स देवान् एह वक्षति ॥२॥

—ऋ० १।१।२॥

पहले के ऋषियों ने उस का, स्तवन किया था, पूर्ण बन गये ।
क्रियाशील जीवन पाते हैं, उसे जानकर आज मुनि नये ॥
वही अग्रणी प्रभुवर अपना, दिव्य गुणों को हम तक लाता ।
उपसेवित हो यज्ञ-भूमि पर, सब दोषों को दूर भगाता ॥

अग्नि की साक्षी में प्रतिज्ञा

ओम् अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम् ।
इदमहम् अनृतात् सत्यमुपैमि ॥३॥

—यजु॰ १।५॥

अग्निदेव व्रत के स्वामी तुम, व्रत का पालक मैं हूं चेरा ।
इस को मैं पूरा कर पाऊं, सिद्ध-सफल हो निश्चय मेरा ।
छोड़ चलूं मैं झूठ अन्धेरा । मिले सत्य का शुभ्र सवेरा ॥

रक्षक अग्नि

ओम् अग्ने त्वं सुजागृहि वयं सु मन्दिषीमहि ।
रक्षाणो अप्रयुच्छन् प्रबुधे नः पुनस्कृधि ॥४॥

—यजु॰ ४।१४॥

अग्निदेव तुम जागृत रहकर, हमें सुनिद्रा-मग्न बनाओ ।
रक्षा में अपनी ही रखकर, जब जागें तब फिर अपनाओ ॥

प्रभुदर्शन

ओं वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥५॥

—यजु॰ ३१।१८॥

जाना मैंने परम पुरुष को, वह महान् है सब प्रकार से ।
सूर्य देव सा प्रखर-वर्ण है, दूर तमोगुण अन्धकार से ॥
हृदयंगम कर, उसे जानकर, पार मृत्यु से मानव तरता ।
नहीं अन्य है मार्ग गमन का, यहीं मोक्ष का अनुभव करता ॥

पारस्परिक सद्भाव

ओं संगच्छध्वं संवदध्वं, सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथापूर्वे, सं जानाना उपासते ॥८॥

—ऋ॰ १०।१९१।२॥

साथ चलो आपस में मिलकर, मीठा बोलो, सच पहचानो ।
मन से अच्छे बनो सभी तुम, एक दूसरे का हित जानो ।।
दिव्य शक्तियों के विभाग जो, पहले सब पर समरस बरसें ।
ज्ञान–सहित उनकी उपासना–द्वारा अब वे सब पर सरसें ।।

ओं समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।
समानं मन्त्रम् अभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ।।९।।
–ऋ०१।१९१।३।।

मन्त्र एक सा दिया देव ने, और एक सा समिति–संगठन ।
सब के मन में शक्ति एक दे, किया चित्त के साथ संवलन ।।
अभिमन्त्रित सब की मन वीणा–में उठतीं इक सी झंकृतियां ।
और सभी को पुष्ट किया है, पञ्चकोष की दे आहुतियां ।।

ओं समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ।।१०।।
–ऋ० १०।१९१।४।।

स्थूल–सूक्ष्म–कारण शरीर ले, तुम उपजे हो मूल सत्त्व से ।
सृजन तुम्हारा हुआ एक सा, हृदय–बुद्धि भी महत्–तत्त्व से ।।
इसीलिए आशीष सफल यह, 'हों समान ही तुम सब के मन ।
और कर्म भी ऐसे करना, जो दे हास–प्रसाद चिरन्तन' ।।

सौमनस्य एवं सामञ्जस्य

ओं सहृदयं सांमनस्यम् अविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यम् अभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ।।११।।
–अथर्व० ३।३०।१।।

मैने तुम्हें बनाया सहृदय, भरी मनों में शुद्ध–कामना ।
सौमनस्य ही दिया मूलतः, नहीं कहीं विद्वेष–भावना ।।
एक दूसरे के समीप तुम, ऐसी जाओ प्रीति संजोकर ।
जैसे गाय रंभाती जाती, नन्हें बछड़े के होने पर ।।

ओम् अनुव्रतः पितुः पुत्रो, मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं, वा॒चं वदतु शन्तिवाम् ॥१२॥

पुत्र पिता के व्रत को पाले, माता के मन से संगत हो ।
पत्नी पति के लिए मधुर सी, वाणी बोले शान्ति सतत हो ॥

ओं मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा, वाचं वदत भद्रया ॥१३॥

भाई-भाई द्वेष रहित हों, बहिन-बहिन में प्रेम पगा हो ।
उचित एकमत नियमी बनकर, बोलो वाणी सदा भला हो ॥

ओं येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः ।
तत् कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥१४॥

—अथर्व० ३।३०।२-४॥

नहीं दिव्यता का विरोध हो, नहीं पले विद्वेष परस्पर ।
ऐसा आत्मिक ज्ञान जहां हो, सब मनुजों को मिले वही घर ॥

ओं ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वियौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान् वः संमनस्कृणोमि ॥१५॥

मान बड़ों का रखने वाले, हो उदार पार्थक्य न लाओ ।
मिल-जुलकर समृद्धि बढ़ाते, सत्य धुरी पर चलते जाओ ॥
एक दूसरे के प्रति सुन्दर, मीठा बोलो, बढ़कर आओ ।
साथ-साथ गति वाले हैं सब, 'मिला एक सा मन' समझाओ ॥

ओं समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यत अरा नाभिमिवाभितः ॥१६॥

दिया एक सा पानी तुम को, किया एक सा अन्न विभाजित ।
एक सरीखा बोझा सौंपा, सम कर्मों में किया नियोजित ॥
निज गति की सुरताल मिलाकर, अग्निदेव का कर लो सेवन ।
चारों ओर अरे ज्यों सट कर, नाभिकेन्द्र पर करते नर्तन ॥

ओं सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि एकश्नुष्टीन्-त्संवनेन सर्वान्।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायं-प्रातः सौमनसो वोऽस्तु ॥१७॥

—अथर्व० ३।३०।५-७॥

साथ-साथ गति वाले तुम को, किया एक से मन से तोषित ।
एक भांति के मनन-कर्म से, एक भोज्य से होना पोषित ॥
इस समता की रक्षा करना, ज्यों देवों ने की अमृत की ।
दोनों सन्ध्या सायं-प्रातः, दें प्रसन्नता तुम्हें चित्त की ॥

मधुमय जीवन

ओं मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम् ।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधु-सन्दृशः ॥१८॥

—अथर्व० १।३४।२॥

घर से निकलूं मैं मधुमय बन, दूर-दूर जाना मधुमय हो ।
वाणी से मैं मधुरिम बोलूं, मधु जैसा मीठा जाऊं हो ॥

ओं नकिर्देवा मिनीमसि नकिरा योपयामसि मन्त्रश्रुत्यं चरामसि ।
पक्षेभिरपि कक्षेभिर् अत्राभि संरभामहे ॥१९॥

—ऋ० १०।१३४।७॥

सुनो देवगण ! हम हों ऐसे, कभी न हिंसा जो अपनाते ।
तोड़-फोड़ करने बिगाड़ने-के भावों को दूर भगाते ।
सुनें मन्त्रणाएं गुरु-जन की, करें आचरण भी वैसा ही ।
सहयोगी बन पक्ष-विपक्षी, साथ यहां सत्कार्य बढ़ाते ॥

श्रेष्ठ घर की कामना

ओम् इहैव ध्रुवा प्रतितिष्ठ शाले अश्वावती गोमती सूनृतावती ।
ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वती उच्छ्रयस्व महते सौभगाय ॥२०॥

—अथर्व० ३।१२।२॥

यहीं जहां तुम बने हुए हो, दृढ़ निष्कम्प रहो ठहरे घर ।
इसमें हों घोड़े गौएँ भी, सच्ची मीठी वाणी के स्वर ॥

ऊर्जस्वी पोषक अन्नों से, दूध, दही, घी से भरपूर ।
ऊंचे बन कर रहो सदा स्थिर, सुख-समृद्धि से कभी न दूर ।।

ओं धरुण्यसि शाले बृहच्छन्दाः पूति-धान्या ।
आ त्वा वत्सो गमेद् आ कुमार आ धेनवः सायमास्यन्दमानाः ।।२१।।

—अथर्व॰ ३।१२।३।

दृढ़ खम्भों पर टिकी हुई है, यह विशाल छत-वाली शाला ।
हो पवित्र धन-धान्य चतुर्दिक्, ठुमके इसमें नन्हा बाला ।
शाम रँभाती गौओं को ले, लौटे इसमें किस्मत वाला ।।

गृहस्थ का स्थायित्व

ओम् इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर् मोदमानौ स्वे गृहे ।।२२।।

—ऋक्॰ १०।८५।४२

रहो इसी आश्रम में दोनों, विलग कभी भी होना मत तुम ।
पूर्ण-आयु का सुख भी भोगो, पुत्र-पौत्र सन्तान सहित तुम ।
खेलो-कूदो मौज मनाओ, अपने घर में रहो मुदित तुम ।।

उषा-काल में समृद्धि

ओम् अश्वावती गोमतीर् विश्ववारा यतमाना रश्मिभिः सूर्यस्य ।
परा च यन्ति पुनरा च यन्ति भद्रा नाम वहमाना उषासः ।।२३।।

ओम् ऋतस्य रश्मिमनुयच्छमाना भद्रम्भद्रं क्रतुमस्मासु धेहि ।
उषो नो अद्य सुहवा व्युच्छास्मासु रायो मघवत्सु च स्युः ।।२४।।

—ऋ॰ १।१२३।१२,१३।।

अश्वों वाली गौओं वाली, और विश्वभर की वरणीय ।
सूर्य-रश्मियों-संग यत्न से, अन्धकार दूरी-करणीय ।।
परे चली जातीं जो आकर, फिर आतीं जाने के बाद ।
रोज उषाएं ले-ले करतीं, 'भद्र' नाम ईश्वर को याद ।।

उत्तम-कर्म-हेतु आशीष

ओम् इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वम् अघ्न्या इन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा वस्तेन ईशत माघशंसो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर् यजमानस्य पशून् पाहि ॥२५॥

—यजु० १।१॥

इष्ट अन्न अरु ऊर्जा तुम को, देने वाली प्राणज शक्ति ।
आगे तुम्हें बढ़ाये प्रतिपल, दिव्य देव सविता की भक्ति ॥
सर्वश्रेष्ठ यज्ञादि कर्म-हित, कर लो प्राणों का संवर्धन ।
जीव-इन्द्र-हित इन्द्रिय-गण ये, सृजक स्वस्थ हों, करो मत हनन ॥
तुम पर राज्य करे ना कोई, चोर-व्यक्ति या पाप-प्रशंसक ।
इस समाज में बढ़ते जाएं, आत्मेन्द्रिय गौओं के रक्षक ॥
स्थिरता पूर्वक लक्ष्य-युक्त हों, सब के साधन गुण-गण-मण्डित ।
उत्तम जीवन जीने वाले, यज्ञशील के पशु हों रक्षित ॥

बलाधान-प्रार्थना

**ओं ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः ।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥२६॥**

—अथर्व० १।१।१॥

इस जग में इक्कीस तत्त्व जो, घूमा करते विविध रूप धर ।
वाचस्पति उन सब के बल को, आज देह में मेरी दो भर ॥

अमर-लोक की कामना

**ओं यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम् ।
तस्मिन् मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षित ।
इन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥२७॥**

ओं यत्र कामा निकामाश्च यत्र ब्रध्नस्य विष्टपम् ।
स्वधा च यत्र तृप्तिश्च तत्र माममृतं कृधि ।
इन्द्रायेन्दो परिस्त्रव ॥२८॥

ओं यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते ।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधि ।
इन्द्रायेन्दो परिस्त्रव ॥२९॥
—ऋ० ९।११३।७, १०,११॥

हे दिव्य इन्दु ! बन सरस सोमरस बरसो ।
मैं बनूं इन्द्र, मन इन्द्रिय-स्वामी कर दो ॥

है जहां निरन्तर वह प्रकाश ज्योतिर्मय,
केवल सुख ही जिस स्थान सदा संस्थापित ।
वह अमर लोक जिसमें रहते सब अक्षय,
उसमें मुझ को पावन प्रभु करो समाहित ॥

हे शान्त इन्दु ! बन सरस सोमरस बरसो ।
मैं बनूं इन्द्र, मन इन्द्रिय-स्वामी कर दो ॥२७॥

निष्काम कामनाएं जिस स्थल हो जाएं,
है जहां सूर्य-सम ज्ञानालोक प्रतिष्ठित ।
सब सुधा-तुल्य समरस हैं, तृप्ति जहां है,
मुझ को भी उस पद पर प्रभु कर दो अमृत ॥

हे सौम्य इन्दु ! बन सरस सोमरस बरसो ।
मैं बनूं इन्द्र, मन इन्द्रिय-स्वामी कर दो ॥२८॥

है जहां मोद आनन्द निरन्तर शाश्वत,
सब मुक्त पुरुष करते विचरण हो हर्षित ।
सम्पन्न कामना जहां काम की होती,
मुझ को भी उस पद पर प्रभु कर दो अमृत ॥

हे श्रेष्ठ इन्दु ! बन सरस सोमरस बरसो ।
मैं बनूं इन्द्र, मन इन्द्रिय-स्वामी कर दो ॥२९॥

शान्ति-प्रार्थना

ओं शान्तानि पूर्वरूपाणि शान्तं नोऽस्तु कृताकृतम् ।
शान्तं भूतं च भव्यं च सर्वमेव शमस्तु नः ॥३०॥

—अथर्व॰ १९।९।२॥

कर्म-योजना शान्तिपूर्ण हो, शान्त-शान्त हो किया-अनकिया ।
शान्त भूत हो और भविष्यत्, सारी अपनी शान्त प्रक्रिया ॥

ओम् इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनःषष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि।
यैरेव ससृजे घोरं तैरेव शान्तिरस्तु नः ॥३१॥

—अथर्व॰ १९।९।५॥

पांच इन्द्रियां और छठा मन, यें जो कर्म कर रहे सारे ।
हृदय हमारे में ब्रह्मा ने, सूक्ष्म बना इनको जोड़ा रे ॥
इन में से जो जन्म दे रहीं, घोर कर्म को, मूढ़ भ्रान्ति को ।
उन्हीं इन्द्रियों से शुभ कृत्यों-द्वारा हम को परम शान्ति हो ॥

ओं पृथ्वी शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिर्द्यौः शान्तिरापः शान्तिर्
ओषधयः शान्तिर्वनस्पतयः शान्तिर्,
विश्वे मे देवाः शान्तिः, सर्वे मे देवाः शान्तिः ।
शान्तिः-शान्तिः-शान्तिभिः, ताभिः शान्तिभिः,
सर्व-शान्तिभिः शमयामोऽहं,
यदिह घोरं यदिह क्रूरं यदिह पापं,
तच्छान्तं तच्छिवं सर्वमेव शमस्तु नः ॥३२॥

—अथर्व॰ १९।९।१४॥

यह पृथिवी शुभ शान्तिमयी हो, अन्तरिक्ष में शान्ति व्याप्त हो ।
दिव्य लोक से शान्ति-प्रसारण, सभी जलों से शान्ति प्राप्त हो ॥
औषधियों में स्वस्थ शान्ति हो, बनें वनस्पति सब अशान्ति-हर ।
मुझ में जितनी दिव्य शक्तियां, सब हों मुझ को सुखद शान्तिकर ॥
आत्मिक, भौतिक और देवकृत, मिले न आधि-व्याधि शोक-शक ।
मैं और आप सभी मिल पहुंचें, ऐसी पूर्ण समग्र शान्ति तक ॥
जो कुछ घोर, कठोर, क्रूर या-पाप यहां हम से हो जाये ।
शान्त और शिव-मंगलमय बन, वह सब हम को शम दे पाये ॥

यज्ञ के लिए आह्वान

दिव्यानन्द सरस्वती

हे आर्यो ! यहां आओ, मिलकर यज्ञ करें ।
नर-नारी यहां आओ, अग्निहोत्र करें ।।

सूर्योदय की वेला आयी, देव यज्ञ का समय है भाई ।
'सूर्यो ज्यीति' से तेज भरें । मिलकर यज्ञ करें ....।।
हे आर्यो ! ....।।१।।

सुन्दर वेदी खूब सजा लें, आसन शुद्ध कई बिछा लें ।
शुद्ध जल का भी पात्र भरें । मिलकर यज्ञ करें ....।।२।।

घृत सामग्री शुद्ध मंगाओ, चन्दन चावल भी मिलवाओ ।
तिल शक्कर का मेल करें । मिलकर ....।।३।।

पूर्वाभिमुख यजमान हो बैठें, शेष दिशाओं में ऋत्विज् बैठें ।
पहले ब्रह्मा का वरण करें । मिलकर यज्ञ करें ....।।४।।

दृढ़ संकल्प यज्ञ का धारें, तीन आचमन कण्ठ सुधारें ।
सभी पावन अंग करें । मिलकर यज्ञ करें ....।।५।।

श्रद्धा से ईश्वर गुण गायें, वेदमन्त्र की ध्वनि गुंजायें ।
सुधी अर्थ प्रकाश करें । मिलकर यज्ञ करें ....।।६।।

अग्नि का संस्थापन कर लें, उन्नत भाव मनों में भर लें ।
तीन समिधाधान करें । मिलकर यज्ञ करें ....।।७।।

पांच आहुति घृत की देकर, चहुं दिशि सिंचन जल को लेकर ।
प्रातः सायं का हवन करें । मिलकर यज्ञ करें ....।।८।।

वायुमण्डल शुद्ध बनायें, अन्तःकरण पवित्र सजायें ।
नित गायत्री जाप करें । मिलकर यज्ञ करें ....।।९।।

जड़चेतन देवों की पूंजा, दान पुण्य निष्काम हो सेवा ।
हर प्राणी से प्रेम करें । मिलकर यज्ञ करें ....।।१०।।

जीवन यज्ञ स्वरूप बनाओ, देवों को देकर के खाओ ।
निज आत्मा 'दिव्य' करें । मिलकर यज्ञ करें ....।।११।।

परिशिष्ट—३

वेद-मन्त्रों के विनियोग में ओंकार का प्रयोग

—आचार्य विश्वदेव शास्त्री
एवं डॉ॰ वेदव्रत आलोक

यज्ञ आदि शुभ कर्मों वा अनुष्ठानों में विनियुक्त वेद-मन्त्रों के आदि और अन्त में, दोनों स्थानों पर, अथवा किसी एक स्थल पर 'ओंकार' का उच्चारण करना चाहिए, अथवा नहीं ? 'हाँ' तो कब और 'नहीं' तो कब नहीं ? विशेष रूप से यह प्रश्न कुछ ही समय से उठने लगा है, और अनावश्यक विवाद का विषय बना दिया गया है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ में 'यज्ञ एवं स्वाध्याय'-हेतु जिस योग-विद्या का संचय किया गया है, वह वेद-मन्त्रों पर ही आधारित है । अतः इस प्रकार विनियुक्त मन्त्रों के साथ ओंकार के प्रयोग के विषय में साधक के सन्देह को दूर करना नितान्त अपेक्षित हो जाता है ।

लगभग आधी शती पूर्व, जब यह विवाद अभी उत्पन्न नहीं हुआ था, अपने गुरुकुलीय अध्ययन-काल में हम ने विविध रूपों में प्रयुक्त एवं विनियुक्त वेद-मन्त्रों में ओङ्कार का प्रयोग कुछ निम्न प्रकार से सीखा-समझा था । आज भी शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर तथा व्यावहारिक-क्रियात्मक पहलुओं पर विचार करने से ओङ्कार की ये चारों प्रयोग-विधियां हमें उपयुक्ततम प्रतीत होती हैं:—

(१) संहिता-पाठ के समय— कतिपय निर्धारित संख्या एवं क्रम वाले, अथवा सूक्त-विशेष के वेद-मन्त्रों को कण्ठस्थ करते हुए या बोलते हुए, अर्थात् संहिता-पाठ मात्र करते हुए, केवल प्रथम मन्त्र के साथ 'ओ३म्' का प्रयोग करके शेष मन्त्रों को बिना ओंकार के पढ़ा जाता है । इसी सन्दर्भ में '**ओ३म् अभ्यादाने**' का नियम सार्थक है ।

प्रातिशाख्यों का एक प्रायः प्रयुक्त वाक्य है—'**ओंकारं मन्त्रे, अथकारं भाष्ये ।**' अर्थात् मन्त्रारंभ में 'ओम्' तथा भाष्य के प्रारम्भ में 'अथ' शब्द का प्रयोग किया जाता है ।

महाकवि कालिदास ने भी रघुवंश में महनीय मनु को मनस्वियों में सर्वप्रथम बताते हुए यह सटीक और शास्त्रानुसारी श्रेष्ठ उपमा दी है–

वैवस्वतो मनुर्नाम माननीयो मनीषिणाम् ।
आसीन्महीक्षितामाद्यः *प्रणवश्छन्दसामिव* ॥ –रघु० १।११॥

"सब मनीषियों में माननीय विवस्वान् के पुत्र मनु महाराज राजाओं के आदि में उसी प्रकार स्थित थे, जैसे मन्त्रों के प्रारम्भ में ओंकार उपस्थित रहता है ।"

ये प्रमाण मन्त्रों के प्रारंभ में ओंकार को एक आवश्यक अंग-रूप में स्वीकार करते हैं । इसीलिए कभी भी वेद-मन्त्रों का पाठ बिना ओंकार उच्चारण के प्रारंभ नहीं किया जाता ।

अब जो नित्यप्रति वेद-पाठ करते हैं, उनके लिए कुछ छूट है । उन्हें मुख्यतः मन्त्रों के क्रम का स्मरण रखना होता है । प्रत्येक मन्त्र के साथ ओंकारोच्चारण उनके ध्यान-भंग का निमित्त बन सकता है । मन्त्रों के बीच ओंकार का ध्यान रखने से कभी-कभी किसी मन्त्र के छूट जाने की सम्भावना हम ने स्वयम् अनुभव की है । इसी व्यावहारिक उपयोगिता के कारण दाक्षिणात्य वेदपाठी भी पाठारम्भ के आदि में केवल एक बार 'ओ३म्' का उच्चारण कर तीव्र गति से पाठ पूरा किया करते हैं । ऐसे वेद-पाठी या वेद-मन्त्र-श्रावक का उद्देश्य उस समय वेद के क्रम की रक्षा ही मुख्य है, न कि ओंकारोपासना । अतः उसके लिए विकल्प है कि वह प्रत्येक मन्त्र के साथ ओंकार का प्रयोग चाहे तो करे, और चाहे तो न करे । किन्तु यदि वह प्रत्येक मन्त्र के साथ ओंकार का प्रयोग करना भी चाहे तो कोई निषेध-परक प्रमाण भी नहीं है । वस्तुतः यह तो वेद-पाठी के अभ्यास और ध्यान पर निर्भर करता है । पुनः-पुनः ओंकारोच्चारण का समय बचाने के लिए भी वेद-पाठी के लिए केवल ऐसे अवसरों पर जब वह यज्ञ आदि नहीं कर रहा हो, तभी व्यवहार-दशा में यह छूट दी गई है, अन्यथा नहीं ।

'स्वस्तिवाचन' एवं 'शान्तिकरण' का पाठ यज्ञों में करते समय स्थिति इस से भिन्न होती है । वहां ये दोनों अंश ईश्वरस्तुति-प्रार्थना-उपासना का ही विशदीकरण हैं, और इनमें मन्त्र-पाठ के साथ ईश्वर को सम्बोधित करने का भी भाव है । ये किसी अनुष्ठान का अंश हैं, मात्र अपनी स्मृति-शक्ति परिष्कार या परीक्षा-हेतु नहीं पढ़े जा रहे । अतः इन्हें संहिता-पाठ के समान ओंकार-रहित करने की छूट नहीं दी जा सकती ।

जो यह तर्क देते हैं कि महर्षि-प्रकाशित संस्कार-विधि या पञ्च महायज्ञ-विधि में इन मन्त्रों के साथ ओंकार नहीं छपा, वे कृपया सोचें कि

चारों वेदों में मन्त्रों के साथ ओंकार छापने की और लिखने की प्रथा भी नहीं रही है। तो क्या इस कारण वे वेद-पारायण यज्ञों में बिना ओंकार के मन्त्र-पाठ को सही मान सकते हैं ?

(२) सन्ध्या-प्रार्थना– के समय प्रत्येक मन्त्र के प्रारम्भ में ओंकार का प्रयोग आवश्यक है। मन्त्र के अन्त में प्रायः ओंकार का प्रयोग सन्ध्या में नहीं किया जाता। किन्तु यदि मन्त्रान्त में भी ओंकार का प्रयोग किया जाए तो उपासना की दृष्टि से अधिक सार्थक और उपयोगी होगा। इस विषय में आदि धर्म-शास्त्री मनु महाराज का एक प्रामाणिक वचन यहां उद्धरणीय है–

ब्रह्मणः प्रणवं कुर्याद् आदावन्ते च सर्वदा ।
स्रवत्यनोंकृतं पूर्वं पुरस्ताच्च विशीर्यति ॥ –मनु॰२।७४॥

"वेद-मन्त्र के आदि में और अन्त में भी सदा प्रणव का उच्चारण करे। मन्त्र से पहले ओंकार का उच्चारण न करने से वह व्यर्थ ही बह जाता है, तथा अन्त में न होने से मन्त्रार्थ बिखर जाता है।"

प्रत्येक वेद-मन्त्र में चाहे किसी भी नाम से स्तुति, प्रार्थना, उपासना आदि हो, अन्ततः वह है तो एकमात्र परमेश्वर के प्रति ही समर्पित–**'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।'** उस एकेश्वर को सम्बोधित करने के लिए मन्त्रारंभ में तो ओंकारोच्चारण नितान्त अपेक्षित है ही। फिर अधिकांश मन्त्रों में, एकाधिक वाक्यों का प्रयोग होता है। एतदर्थ मन्त्र-समाप्ति पर पुनः ओंकारोच्चारण से प्रभु का पुनः स्मरण एवं प्रार्थना-पूर्त्यर्थ ध्यानाकर्षण किया जाना वांछनीय हो जाता है। इसीलिए मनु जी ने यह विधान किया है कि जिससे प्रार्थना की जा रही है, उसका संकेत न होने से हमारी अभ्यर्थना अनसुनी न रह जाए, उसका विशरण न हो।

छान्दोग्य उपनिषत् का एक वचन इस प्रकार है–

तेनेयं त्रयी विद्या वर्तत ओमित्याश्रावयति, ओमिति शंसति, ओमिति उद् गायति एतस्यैव अक्षरस्य अपचित्यै महिम्ना रसेन ॥
–छान्दोग्य॰, प्रपाठक १।१।९॥

"इसीलिए यह त्रयी वेद-विद्या निरन्तर पुनः-पुनः विद्यमान रहती है कि यह 'ओ३म्' को होता द्वारा सुनाती है, ओ३म् की स्तुति अध्वर्यु द्वारा कराती है, और ओ३म् का गायन उद्गाता द्वारा कराती है। इसी अविनाशी ओंकार की उपासना के लिए ये सब क्रियाएं होती हैं। इसी ओंकार की महिमा और आनन्ददायी गायन

के रस से मनुष्यों की प्रवृत्ति शुभ कर्मों में होती है ।"

इस प्रसंग का भाष्य करते हुए प्रसिद्ध आर्य-शास्त्रार्थ-महारथी श्री शिवशंकर शर्मा काव्यतीर्थ स्पष्ट कहते हैं-

'किन्तु सकल-मन्त्राणाम् आदौ अन्ते च तदक्षरमावर्तयन्ति ।'

अर्थात् "सभी मन्त्रों के आदि और अन्त में इस अक्षर 'ओ३म्' की आवृत्ति करते हैं ।"

जिस परमेश्वर के ही स्मरण, व्याख्यान एवम् आह्वान-हेतु समस्त मन्त्रों का विनियोग समस्त कर्मों-अनुष्ठानों में उसी से प्रार्थना करने के लिए होता है, भला उसके निज नाम 'ओ३म्' का प्रयोग, एवं सर्वत्र सम्बोधन किये बिना कोई भी क्रिया सार्थक और सफल कैसे कही जा सकती है ? इस बात को कोई जाने या न जाने, ओंकार का प्रयोग सफलता अवश्य देगा, ऐसी मान्यता छान्दोग्य उपनिषद् अत्यन्त दृढ़तापूर्वक व्यक्त करता है-

तेनोभौ कुरुते-यश्च एतदेवं वेद, यश्च न वेद । नाना तु विद्या च अविद्या च । यदेव विद्यया करोति, श्रद्धया, उपनिषदा, तदेव वीर्यवत्तरं भवति, इति खलु एतस्यैव अक्षरस्य उपव्याख्यानं भवति ॥

ओंकाराक्षरं तावत् कीदृशं वर्तते ? ज्ञातं सत् फल-वाहकम् आहोस्विद् अज्ञातमपि ? विदितान्येव फलं प्रयच्छन्ति यथा मणिमुक्तादीनि । अविदितान्यपि यथा विषभक्षणादीनि । -छान्दोग्य० १।१।१०॥

"ओंकार का प्रयोग दोनों प्रकार के व्यक्ति करते हैं, जो इसे इस रूप में सामर्थ्यवान् जानता है, और जो नहीं जानता वह भी । विद्या और अविद्या अनेक प्रकार की हुआ करती है । परन्तु जो कुछ भी विद्या सहित, श्रद्धापूर्वक और उपासना द्वारा सम्पन्न किया जाता है वह कर्म अधिक सामर्थ्यवान् हुआ करता है । इस अविनाशी ओंकार अक्षर का यह स्पष्टीकरण है ।"

"अच्छा तो यह ओंकार कैसा विशिष्ट अक्षर है ? और क्या यह जाना हुआ ही फल देने वाला होता है, अथवा न जाना हुआ भी ? संसार में कुछ पदार्थ ऐसे हैं जो तभी फल देते हैं, जब हम उन्हें जानते हैं । जैसे मणियाँ, मोती आदि । किन्तु कुछ ऐसे हैं जिन्हें हम न जानें, तब भी फल देते हैं, जैसे विष खा लेना आदि ।"

इसी प्रकार अमृत को जानें या न जानें, जब-जब उसका जो-जो पान करेगा, तब-तब और वह-वह उससे अमर आनन्द पायेगा ही । और हमारा प्यारा ओंकार-पद निस्सन्देह ऐसा ही अमर-पददायी अमृत-रस है । फिर वेद-मन्त्रों में

विहित उसके यथोचित उभयस्थ प्रयोग को त्यागकर हम स्वयं को अमरत्व से वंचित क्यों करें ? शास्त्रकारों ने इसीलिए कहा है–

ओ३म् इत्येतदक्षरम् उद्गीथमुपासीत । –छान्दोग्य॰ १।४।१।।

आपयिता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वान् अक्षरमुद्-गीथमुपासते । समर्धयिता ह वै कामानां भवति ।

–छान्दोग्य॰ १।१।७–८।।

अतएव यहां मन्त्रों के आदि और अन्त में प्रयोग के लिए एक अन्य आदेश पर भी ध्यान दें । इसमें भी स्पष्टतः निर्देश है :–

यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तो, वेदान्ते च प्रतिष्ठितः ।

–तैत्तिरीय॰ प्रपा॰ १०।१०।३।।

***(३) सामान्य या विशिष्ट दैनिक*– अथवा नैमित्तिक यज्ञों** में प्रत्येक मन्त्र के प्रारम्भ में ओंकार का प्रयोग तो किया ही जाता है । मन्त्र के अन्त में, ओंकार का प्रयोग किये बिना ही 'स्वाहा .... इदन्न मम' इस अंश का प्रयोग प्रायः किया जा रहा है । अब यदि उपर्युद्धृत प्रमाणों के अनुरूप अपने अनुष्ठान में हम ईश्वर को प्रत्येक प्रार्थना के साथ सम्बोधित करना चाहते हैं, तो ऐसे यज्ञ-कर्मों में मन्त्रान्त में भी **'ओ३म् स्वाहा ....'** ऐसा उच्चारण करना शास्त्र के अविरुद्ध और आवश्यक है ।

वस्तुतः व्यावहारिक सुविधा की दृष्टि से मान लिया गया है कि ऐसे यज्ञों में विनियुक्त मन्त्रों में से प्रत्येक मन्त्र की प्रार्थना एक ही है, और उसके लिए एक प्रारंभिक ओंकारोच्चारण द्वारा किया गया ईश्वर-सम्बोधन पर्याप्त है। अतः ऐसे सामान्य और दैनिक यज्ञों में केवल मन्त्रारंभी ओंकार का व्यवहार प्रचलन पा गया है । किन्तु दूसरी ओर विशिष्ट एवं नैमित्तिक यज्ञों, अनुष्ठानों और संस्कारों में वैशिष्ट्य का आधान करने के लिए यदि प्रत्येक मन्त्रान्त में भी ओंकार का उच्चारण किया जाये तो उसे अशास्त्रीय व्यवहार नहीं कहा जा सकता । पं॰ युधिरिष्ठर जी मीमांसक ने **'वैदिक-नित्यकर्म-विधि'** के उपोद्घात में (पृष्ठ सं॰ २० पर) इस मन्त्रान्तस्थ ओंकार के प्रयोग को 'कर्मकाण्डीय पद्धति के विपरीत' कहा अवश्य है, किन्तु कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया है । साथ ही वहीं 'याज्ञिक पद्धति के अनुसार सामिधेनी, मन्त्रों आदि में ऐसे प्रणवादेश' का संकेत भी किया है । अतः जिस प्रकार श्रौतसूत्र

आदि के विधान से कतिपय विशिष्ट यज्ञों में मन्त्रान्त में ओंकार स्वीकृत है, उसी प्रकार अन्य यज्ञों में भी विशिष्टता-हेतु इस विधि का प्रयोग अनुचित नहीं कहा जा सकता ।

प्रस्तुत ग्रन्थ के योग-परक मन्त्रों द्वारा निष्पन्न किया जाने वाला 'योग-यज्ञ' एक विशिष्ट और नैमित्तिक यज्ञानुष्ठान ही है । *इस में योग द्वारा प्राप्तव्य ईश्वर-सन्निधि या ईश्वर-साक्षात्कार के लिए उस के निजनाम ओंकार का प्रयोग प्रत्येक मन्त्रों में दोनों स्थलों पर करना और भी वांछनीय हो जाता है । अतः योग-परक मन्त्रों को ओंकार से सम्पुटीकृत करके यज्ञ में विनियुक्त करना उत्तम फलदायी हो जायेगा ।* इनका स्वाध्याय करते हुए तो जब भी विराम लें, तभी ओंकार के उच्चारण द्वारा स्वयं को ईश्वर-प्रणिधानी, ईश्वर समर्पित, ईश्वर कृपा करुणा से कृतार्थ अनुभव करते रहना परम आनन्द का साधन सिद्ध होगा ।

(४) वेद-पारायण यज्ञों में– प्रत्येक मन्त्र के प्रारम्भ में और अन्त में भी ओंकार का प्रयोग होना चाहिए । तदर्थ **'प्रणवष्टेः'** के अनुसार मन्त्रान्त की **'टि'** (=अन्तिम स्वर और आगे के शेष अश) के स्थान पर **'ओ३म् स्वाहा'** का प्रयोग होना चाहिए ।

प्रस्तुत पुस्तक में ओंकार के प्रयोग-विषयक सन्देह के निराकरणार्थ प्रत्येक मन्त्र के प्रारम्भ में 'ओ३म्', 'ओम्' या 'ओं' ये तीन प्रकार के ओंकार छापे गये हैं ।

इसका स्पष्टीकरण निम्नप्रकार से है–

'ओ३म्' नौ भिन्न विषयों के प्रतिपादन-हेतु वर्गीकृत प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भिक मन्त्र का 'ओंकार' प्लुत उच्चारण से युक्त है – **ओ३म् अभ्यादाने** के अनुसार ।

ओम्–वह प्रत्येक मन्त्र जिसका आरम्भ स्वर (अच् अक्षर) से होता है उस के प्रारम्भ में आने वाला ओंकार मकारान्त होगा । नियम है–**'मोऽनुस्वारः'** ''मकार को अनुस्वार तभी होगा जब हल् (व्यञ्जन) परे हो ।'' अर्थात् स्वर परे रहने पर मकार ही शेष रहेगा ।

ओं–व्यञ्जन से प्रारम्भ मन्त्र के पूर्व ओंकार के म् का यह सानुस्वार रूप रहता है, अतः ऐसा ही छापा गया है ।

पुस्तक में मन्त्रान्त में **'ओं स्वाहा'** न छापने का कारण यह है कि

स्वाध्याय के समय प्रारम्भिक ओंकार का प्रयोग तो होगा, किन्तु इस अंश 'ओं स्वाहा' का प्रयोग नहीं होगा, यतः अर्थ जानने में वहां मन्त्रान्त में यह अंश पुनरावृत्ति-पूर्ण होने से बाधक होगा। यज्ञ के समय तो सर्वत्र एक सा प्रयोग होने से साधारण पाठक व साधक को भी इस अंश की ऊहा व प्रयोग करने में कोई कठिनाई उपस्थित नहीं होगी।

इस प्रकार, स्वाध्याय के समय केवल अर्थ-विचार पर दृष्टि को एकाग्र रखते हुए साधक मन्त्र-पाठ, अध्ययन एवं निदिध्यासन कर सकेंगे। तदनन्तर यज्ञ के समय, इन मन्त्रों द्वारा आहुति भी देनी है, ऐसा निश्चय कर लेने के कारण मन्त्र-पूर्ति पर 'ओं स्वाहा' का प्रयोग मन्त्रान्त के **'टि'** (अन्तिम स्वर एवं शेषांश) के स्थान पर कर सकेंगे, ऐसा हमारा विश्वास है। इसे उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है।

निम्नांकित मन्त्रों का उभयस्थ ओंकार सहित उच्चारण वेद-पारायण तथा योग-यज्ञ आदि अनुष्ठानों में इस प्रकार होगा—

ओं भूर्भुवः स्वः .... धियो यो नः प्रचोदयों स्वाहा ॥
ओं विश्वानि देव .... यद् भद्रं तन्न आसुवों स्वाहा ॥
ओं त्र्यम्बकं यजामहे .... मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतों स्वाहा ॥

अर्थात् व्याकरण-नियमानुसार लिखा तो ऐसा ही जायेगा, किन्तु बोला त्रिमात्रिक जायेगा। उपर्युक्त उदाहरण भाषा के लेख के विचार से प्रस्तुत है। वस्तुतः निर्देश के लिए त्रिमात्रिक 'प्रचोदयो३म् स्वाहा' करके दिखाना पड़ेगा, तभी सुगम होगा। वस्तुतः तो त्रिमात्रिक प्लुत ओ३म् का उच्चारण वेदपाठ, पारायण आदि यज्ञों में किया जाना अनिवार्य है। वहां किसी विकल्प का विधान नहीं है।

अन्य प्रमाण : व्याकरण

वेद की रक्षार्थ व्याकरण का ज्ञान आवश्यक है **'रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्'**। आजकल व्याकरण से अनभिज्ञ भी ब्रह्मा का पद सुशोभित कर यज्ञ कराते हैं। वे **टि** भाग को प्लुत ओ३म् के साथ बोल ही नहीं सकते। अतः बिना ओ३म् के ही स्वाहान्त-मात्र से आहुति दिलाकर कृतकृत्य हो जाते हैं।

महर्षि पाणिनि जी ने इस बात को किस प्रकार प्रतिपादित किया है, थोड़ा समझ लें।

ओमभ्यादाने (८।२।८७)=अभ्यादान=मन्त्र के आरंभ में उदात्त-प्लुत ओ३म् पढ़ना चाहिए ।

प्रणवष्टेः (८।२।८९)=यज्ञकर्म में मन्त्र के टिभाग को प्लुत-उदात्त प्रणव=आदेश होता है ।

दो महर्षियों के आदेश में थोड़ा सा भेद प्रतीत होता है । पीछे पृ० १९९ पर उद्धृत श्लोक में मनु महाराज मन्त्र के अन्त में ओ३म् का विधान करते हैं, जबकि आचार्य पाणिनि टिभाग के स्थान में ओ३म् का आदेश कर रहे हैं ।

तनिक सा विचार किया जाये तो यह भेद नहीं है । 'टि' पर भी मन्त्र का अन्त ही होता है । तात्पर्य यह है कि मन्त्र के अन्त में 'ओ३म्' अवश्य पढ़ना चाहिए । जो व्याकरणानभिज्ञ 'टि' का विवेक न रखता हो, वह मन्त्र के अन्तिम अक्षर के पश्चात् पढ़ लें । पर पढ़े अवश्य । न पढ़ने से उसका वेदपाठ मनु के मतानुसार व्यर्थ=अर्थहीन हो जाता है ।

ब्राह्मण ग्रन्थ : गोपथ ब्राह्मण

पूर्वभाग प्रपाठक की २३ वीं कण्डिका में वर्णन आता है, कि असुरों से भयभीत देवों ने ओंकार की शरण ली । ओंकार ने एक पणबन्ध (शर्त) के साथ देवों की रक्षा का वचन दिया । वह पणबन्ध यह है-

न मामनीरयित्वा ब्राह्मणा ब्रह्म वदेयुः। यदि वदेयुः अब्रह्म तत् स्यात् ।

अर्थात्-"मुझ (ओ३म्) को उच्चारण किये बिना ब्राह्मण वेद न बोलें । यदि बोलें, तो वह वेद न रहे ।"

पीछे जो मनु का श्लोक उद्धृत किया गया है, उसमें दिये **'स्रवत्यनोंकृतम्'** को **'अब्रह्म तत्स्यात्'** से मिलाइये । गोपथकार का वर्णन काव्यमयी चमत्कृत भाषा में है, धर्मशास्त्रकार मनु का वर्णन एक आदेशकारी व्यवस्थापक का वचन है । आशय दोनों का एक है । हो भी क्यों न ? जब दोनों ऋषि हैं, ऋषियों के वर्णन-प्रकार, निरूपण-पद्धति, लापन-शैली, प्रतिपादन-प्रणाली में भेद-(विरोध नहीं) हो सकता है, आशय में नहीं ।

गोपथब्राह्मण [पूर्व० १।२७] में एक आख्यायिका है । 'द्वापर में ऋषियों का एक समुदाय चिन्तित होने लगा कि अथर्ववेद के बिना केवल ऋग्, यजु, सामवेदों द्वारा सोमपान करने से वह अधूरा सा रहता है । इस विचार से यह वर्ग भयभीत हुआ, और वह ओ३म् की शरण में गया । 'ओ३म्' ने उन्हें

शिष्टाचार (शिक्षा-प्राप्त करने के लिए आवश्यक आचरण) का उपदेश किया कि प्रत्येक मन्त्र के आरम्भ में ओ३म् का उच्चारण करो। और साथ ही आदेश किया कि अथर्ववेद के बिना सोमपान नहीं करना चाहिए। ऋषियों ने 'तथास्तु' कह कर उस आदेश को स्वीकार किया और तदनुकूल आचरण करने से वे शोक, मोह, भय से रहित हो गये। 'इतना कह कर लिखा है- **'तस्माद् ब्रह्मवादिन ओंकारमादितः कुर्वन्ति'**=इसलिए ब्रह्मवादी, वेदपाठी, आदि में ओ३म् का प्रयोग किया करते हैं।

महर्षि दयानन्द

ऋषियों के हृदय को पहचानने वाले **महर्षि दयानन्द** ने भी कहा है-

सर्वेषामेव वेदानामीश्वरे मुख्येऽर्थे मुख्यं तात्पर्यमस्ति तत्प्राप्तिप्रयोजना एव सर्व उपदेशाः सन्ति ॥ (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका)

सभी वेदों का मुख्य तात्पर्य ब्रह्म है। उसकी प्राप्ति करना सब उपदेशों का प्रयोजन है। अर्थात् सम्पूर्ण वेद मुख्य रूप से ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। स्वयम् ऋग्वेद में यह बात कही गई है-

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥
(१।१६४।३९)

"सम्पूर्ण ऋचाएं=वेद-मन्त्र उस अविनाशी सर्वोत्कृष्ट जीवनाधार सर्वव्यापक ब्रह्म के निमित्त हैं। उसमें सभी देव=सूर्य, चन्द्रादि वसु, रुद्र आदित्यादि एवम् उत्कृष्ट गुण रहते हैं। जो उस ब्रह्म को नहीं जानता, वह वेद से क्या करेगा ? जो उसको जानते हैं, वे समता से रहते हैं।"

आर्य विद्वान्

आदि-अन्त में प्लुत ओ३म् के विषय में शिवशङ्कर जी काव्यतीर्थ शास्त्रार्थ महारथी की सम्मति ऊपर दी गई है। यही अभिमत प्रसिद्ध आर्य संन्यासी उद्भट विद्वान् **स्वामी वेदानन्द जी तीर्थ** का भी है। उनका स्पष्ट कथन ज्यों का त्यों प्रस्तुत है-

"ऋषियों का आदेश है कि मन्त्रों के आदि तथा अन्त में, ब्रह्मयज्ञ के समय ओ३म् का प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् मन्त्र के आरम्भ में प्लुत (त्रिमात्रिक) **ओ३म्** का उच्चारण करना चाहिए। इसी प्रकार मन्त्र के **टि**-भाग

के (यदि अन्त में स्वर हो, तो वह 'टि' कहलाता है;) यदि अन्त में व्यञ्जन हो तो व्यञ्जन से पूर्ववर्ती स्वर समेत वह व्यञ्जन टि होता है। (जैसे इस गायत्री मन्त्र का अन्तिम 'आत्' टि है) उसके स्थान में ओ३म् पढ़ना चाहिए। इस व्यवस्था के अनुसार 'प्रचोदयात्' के स्थान में 'प्रचोदयो३म्' पढ़ना चाहिए।''

''इस बात को सुदृढ़ करने के लिए परमात्मा के आदेश से ऋषियों ने आदि और अन्त में 'ओ३म्' पढ़ने की व्यवस्था की है। उसके अनुसार यहां भी मन्त्र के आदि और अन्त में 'ओ३म्' प्रयोग किया गया है।''

—सावित्रीप्रकाश पृष्ठ १३-१६

यहां स्वामी वेदानन्द जी तीर्थ ने प्रकरणवश कठोपनिषद् का एक उद्धरण प्रस्तुत किया है–

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ओ३म् इत्येतत्॥

''जिस पद का सम्पूर्ण वेद पुनः-पुनः अभ्यास करते हैं=दोहराते हैं, सारे तप जिसके उद्देश्य से किये जाते हैं, जिसकी इच्छा करते हुए लोग ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं; हे नचिकेत! संक्षेप से तुझे बताता हूं वह पद 'ओ३म्' है।''

१. इस मन्त्र में तप की बात कही गई है। यज्ञ एक तप है। तप के विना मनुष्य प्रभु की प्राप्ति नहीं कर सकता। **'अतप्ततनूर्न तदामोऽश्नुते।'** ऋग्वेद। अतः *जिस प्रभु-प्राप्ति के लिए* पारायण यज्ञादि किये जा रहे हैं वहां उसी प्रभु का नाम आप नहीं ले रहे। यह एक विचित्र स्थिति है।

२. आप प्रार्थना कर रहे हैं–**विश्वेदेवा नो अद्या स्वस्तये।** यह प्रार्थना किससे की जा रही है? *जिस प्रभु से प्रार्थना* है उसी का सम्बोधन ओ३म् नहीं बोल रहे।

३. एक मन्त्र में एक ही बात की प्रार्थना नहीं होती *अनेक बातों की प्रार्थना* हो सकती है। अतः अन्त में भी ओ३म् का विधान है।

४. यदि परम्परा का ध्यान किया जाये तो पौराणिक विद्वान् भी सर्वत्र ओ३म् का उच्चारण प्रत्येक मन्त्र के प्रारम्भ में करते हैं। वे पौराणिक और अपने विद्वान् भी स्थान-स्थान पर ओ३म् उच्चारण करते हैं जबकि वे मन्त्र भी नहीं होते। अपने ऊहित संस्कृत वाक्यों के साथ भी यथा आशीर्वाद में ''ओ३म् सत्याः सन्तु यजमानानां कामाः। ओ३म् स्वस्ति। ओ३म् स्वस्ति। ओ३म् स्वस्ति'' आदि अनेक बार बोलते हैं। पुनः वेद-मन्त्रों में उनका विरोध समझ में नहीं आता।

५. एक तर्क है कि स्वामी जी ने संस्कारविधि में ओ३म् तो सर्वत्र नहीं दिया । प्रकरण के आदि में ही केवल एक बार दिया है ।

यह तर्क भी उनका अविचारित ही है । संस्कारविधि में ही राष्ट्रभृत् होमादि में तो प्रत्येक मन्त्र में ओ३म् दिया है । वस्तुस्थिति तो यह है कि मुद्रण व्यवसाय का व्यक्ति ही इस बात का उत्तर दे सकता है । किसी भी पुस्तक को छापने में हर १६ पृष्ठ के बाद जो टाइपं अधिक लगते हैं, वे बार-बार मंगाने पड़ते हैं । अतः प्रारम्भ में संस्कारविधि में जो टाइप की स्थिति होगी उसी के अनुसार कार्य किया गया है । पृष्ठ पर स्थानाभाव भी न देने का कारण हुआ करता है ।

विश्वास है, हम ऋषियों के वचनों पर ध्यान देकर इस विषय में अपने दुराग्रहों से मुक्त हो सकेंगे । ऋषि-भक्ति का यह अर्थ नहीं होता कि हम मर्म को समझे बिना छपे हुए ग्रन्थों को प्रमाण बताकर 'मक्खी-पर-मक्खी मारते' चले जाएं ।

व्यवहार की दृष्टि से धर्म और कर्म शास्त्र द्वारा 'विहित' या 'अविहित' दोनों प्रकार के हैं । 'विहित' वे जिनका विधान किया गया हो, और 'अविहित' वे जिनका निषेध न किया गया हों । ऊपर दिये प्रमाणों से वेद-मन्त्रों में ओंकार-प्रयोग शास्त्र-विहित सिद्ध होता है । साथ ही, किसी शास्त्र द्वारा अथवा स्वयं महर्षि द्वारा इसका कहीं निषेध नहीं किया गया है । अतः 'विहित', 'अविहित' एवं 'व्यवहृत' सभी दृष्टियों से मन्त्रों में ओंकार-प्रयोग आवश्यक है ।

[अन्त में निवेदन है कि यह प्रतिक्रिया-लेख मूलतः दयानन्दसन्देश में आये लेखों के उत्तर में लिखा गया था । अब यह श्री वेदव्रत जी आलोक के संशोधन एवं निर्देशानुसार प्रकाशित किया जा रहा है । यदि सुधीजन अपनी प्रतिक्रिया से अवगत करायेंगे तो आगे भी सम्भव समाधान विचार कर प्रस्तुत करने का प्रयास किया जायेगा ।

जो विद्वान् अपने द्वारा कराये पारायण-यज्ञों में ओ३म्-उच्चारण का प्रारम्भ व अन्त में सर्वत्र निषेध करते हैं, केवल यज्ञारम्भ में ही ओ३म् का पाठ करवाते हैं, उनसे विशेष निवेदन है कि अपना अभिमत अवश्य भेजें ।]

—विश्वदेव शास्त्री

वैदिक प्रेस, कैलाशनगर, दिल्ली-३१

फोन : २२४६६४६



यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन ।
स धीनां योगमिन्वति ॥

—ऋ०१।१८।७॥

जिस सर्वज्ञ बिना ना सधता,
कोई यज्ञ योग-साधक का ।
वही व्याप्त हो सिद्ध कर रहा,
बुद्धि-योग भी आराधक का ॥

ज्ञान, कर्म, उपासना रूप त्रिविध यज्ञ अथवा समग्र योग को ईश्वर-प्रणिधान द्वारा ही भलीभांति निष्पन्न किया जा सकता है । देव-यज्ञ में और ब्रह्म-यज्ञ में भी उसी सर्वनियन्ता, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, अनन्त-चेतना-ज्ञान-प्रकाश-आनन्दमय की सन्निधि-अनुभूति सदा बनी रहे ! इसी सच्चिदानन्द-समर्पण की निरन्तरता से हमारा जीवन सार्थक, सम्पूर्ण और सफल हो !!

परिशिष्ट–४

जिनकी पावन स्मृति में यह पुस्तक प्रकाशित की गयी–

श्री गोविन्दराम कपूर

एक संक्षिप्त परिचय

–सुश्री कृष्णा कपूर

पातंजल योगधाम हरिद्वार के संचालक एवम् अध्यक्ष स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती जी, जिन का दिव्य योगमय जीवन विद्या, तप, तथा योग-साधना से देदीप्यमान है ; उन से मेरा परिचय लगभग दो वर्ष पूर्व ही हुआ । तभी से योग के प्रति मेरी जिज्ञासा उत्पन्न हुई, एवं प्रबल इच्छा हुई कि योग के सम्बन्ध में एक पुस्तक अपने पूज्य पिता जी की पुण्य स्मृति में प्रकाशित कराऊं । तदनुसार स्वामी जी ने मेरी इस प्रार्थना को स्वीकार किया एवं यह नवीन कृति **यज्ञ-योग-विद्या** पाठकों की सेवा में प्रकाशित कर प्रस्तुत की है । एतदर्थ मैं उन का आभार व्यक्त करती हूं ।

मेरे पूज्य पिता जी का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है–

श्री गोविन्दराम कपूर जी का जन्म दिनांक ७/१/१८९९ हरनपुर, जिला जेहलम (अब पाकिस्तान) में हुआ था । मेरी माता जी का नाम श्रीमती राधादेवी कपूर था । हम धर्मानुरागी माता-पिता का वात्सल्य-प्रेम प्राप्त कर जीवन में सुशिक्षा और स्वास्थ्य प्राप्त कर सके तथा उन की शिक्षा के आधार पर ही सद्गुणों को धारण कर सके ।

मेरे माता-पिता का गृहस्थ जीवन बहुत सुन्दर एवं सुखद था । वैदिक धर्म का दृढ़ सूत्र दोनों के हृदयों को जोड़े हुए था । आर्यसमाज से सम्बन्धित कार्य व स्वाध्याय ही उनके आमोद-प्रमोद का मुख्य केन्द्र रहे । साप्ताहिक सत्संगों में साथ-साथ जाना, यज्ञादि सभी उत्साहपूर्वक सम्पन्न करना-कराना आप के जीवन का नियम बना रहा । वे दोनों आर्यसमाज के लिए समर्पित थे । परिवार में ऋषि

दयानन्द एवं आर्यसमाज की पुनीत चर्चा का प्रारम्भ आप द्वारा किया गया । प्रत्येक कार्य का प्रारम्भ ईश्वर-स्मरण और अग्न्याध्यान, यज्ञादि से करना, दुःख-सुख में समभाव से रहना, यही गुण उन्हें प्रिय थे । वे स्वाभिमानी अवश्य थे, परन्तु अहंकारी नहीं ।

श्री सत्यकाम विद्यालंकार की पुस्तक **साम-सुधा-गीत** में अंकित स्वरबद्ध वैदिक ऋचाओं पर आधारित कवितानुवाद का गायन उन्हें अलौकिक आनन्द देता था । अस्वस्थता की अवस्था में भी इसी की गुनगुनाहट उन के ओठों पर रहती थी । उन्होंने सौ शरद् ऋतुएँ तो नहीं देखीं, परन्तु जितने वर्ष जिये सार्थक कर गये । समय के हर पल को उत्साह और कर्मठता से जीना, सोच-समझ कर वचन देना व दिये वचन को प्रत्येक दशा में निभाना ही उन्हें प्रिय था । उन का स्वभाव शान्त तथा प्रकृति सौम्य थी । राजकीय सेवा में एकांउट्स आफीसर के पद पर रहते हुए अपने स्टाफ के साथ उन का आत्मीयतापूर्ण व्यवहार था । महर्षि दयानन्द सरस्वती के मूल सन्देशों के वह अनुयायी एवम् आराधक थे ।

आचार्य प्रियव्रत वेद-वाचस्पति जी ने उन के दिवंगत होने पर लिखा था– ''वह साधुस्वभाव और कर्तव्य-निष्ठ व्यक्ति थे । जो भी उन के सम्पर्क में आता था, वही उन के सौम्य स्वभाव और कर्त्तव्य-निष्ठा से बहुत प्रभावित होता था । आर्यसमाज के प्रति उन का गहरा प्रेम था, और वह निःस्वार्थ भाव से आर्यसमाज की सेवा के लिए सदा तत्पर रहते थे ।''

अमीचन्द जी के दो भजन *'जय जय पिता परम आनन्द दाता'* तथा *'अपनी उपासना अपना ही जाप, सिखाओ प्रभु पूजा की विधि आप'* उन्हें बहुत प्रिय थे। प्रातः निजी उपासना पर्याप्त समय देकर करना तथा सायंकाल कॉलोनी के बच्चों को इकट्ठा कर निर्धारित समय पर सन्ध्या करना व कराना, उन्हें शिक्षाप्रद कहानी सुनाना अथवा ऋषि दयानन्द के जीवन की प्रेरणादायक घटनाएँ सुनाना उन की प्रतिदिन की जीवन-प्रक्रिया थी । इस प्रकार के सभी सामाजिक एवम् आर्यसामाजिक कार्यों के पीछे मेरी माता जी का आत्मोत्सर्ग तथा सक्रिय सहयोग भी सदा उन्हें मिलता रहता था ।

ईश्वरीय न्याय-व्यवस्था के अनुरूप हमारे प्रिय व आदरणीय पिता जी का शरीर तो पंच-तत्त्व को प्राप्त हो गया, परन्तु उन की सुखद स्मृतियाँ हमारे पथ को सदैव आलोकित करती रहेंगी । इस भावना के साथ इस पुस्तक-प्रकाशन में सहयोग-द्वारा हम अपने पूज्य पितृदेव को श्रद्धा-सुमन समर्पित करते हैं ।

इस पवित्र स्मृति के अवसर पर हम सभी भाई-बहन भी अपने पूज्य पितृ-श्री को नमस्कारपूर्वक स्मरण करते हैं। मेरे अतिरिक्त अन्य भाई--बहनों के नाम हैं– **वेदकुमारी, निर्मला, स्नेहलता, केवलकृष्ण, वेदव्रत, स्वतन्त्र कपूर।**

सम-सामयिक सामाजिक समस्याओं से पूज्य पिता जी का मन व्यथित होकर प्रश्न करता था–"स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाने पर भी हमारे बच्चों को अभी तक स्कूलों या कॉलेजों में उच्च आदर्शों को सामने रखकर लिखी पुस्तकें पढ़ने को नहीं मिलतीं। पुस्तक-प्रकाशक भी इस ओर अधिक ध्यान नहीं देते। ऐसी दशा में सन्तानों पर क्या अच्छे प्रभाव पड़ सकते हैं ? ऊपर से उन्हें बाजार से सस्ते उपन्यास और जीवन-पतन करने वाली अनेक पुस्तकें सुलभ हों, तो वे देश के भावी कर्णधार कैसे बनेंगे ?"

उनके अनुभवपूर्ण अनुशासित जीवन का निष्कर्ष था कि "चरित्र-निर्माणार्थ सर्वप्रथम छोटी-छोटी बातें उपयोगी होती हैं, जैसे--*दुर्व्यसनों में न फंसना, वचन-भंग न करना, दूसरे की अनुमति बिना उसकी वस्तु ग्रहण न करना, प्रेम का व्यवहार रखना, वार्तालाप में शिष्टता-सभ्यता का परित्याग न करना, अनुशासन का पालन करना, मितव्ययी होना, सत्य वचन ही सोचना, कहना, मानना, पाप के आगे न झुकना* इत्यादि।"

श्री गोविन्दराम कपूर के कुछ ऐसे प्रेरणादायी विचारों को मैं यहां उद्धृत करना चाहती हूं, जिन से हम सतत प्रेरित होते रहे हैं–

सुविचार– "उत्तम शिक्षा और विचार ही जीवन को यज्ञमय बनाते हैं। तथा जीवन-सम्बन्धी प्रत्येक संग्राम व संघर्ष में काम आते हैं। विचार आचार का पहला रूप है। जिन विचारों को हम अपने मन में स्थान देंगे, जैसे वातावरण में रहेंगे, समय पाकर वे विचार ही आचार का रूप धारण कर लेंगे। विचारों का जीवन पर अमिट और गहरा प्रभाव पड़ता है। अपने आचार को उन्नत बनाये रखने के लिए अपने विचारों और भावनाओं को उत्तम, उज्ज्वल और महान् बनाये रखो, निकृष्ट विचारों को अपने मन में स्थान मत दो।"

सादगी– "यह सत्य है कि विचारों में पवित्र भावना तब तक नहीं आ सकती जब तक हम अपने जीवन को सादा तथा संयमी नहीं बना लेते। जिन मनुष्यों के रहन-सहन, खान-पान, उठना-बैठना, बोल-चाल, वेश-भूषा सब में सादगी होती है, उनके मानसिक विचारों का प्रवाह बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी बना रहता है। उनके मन में उदात्त भावना जागृत होती रहती है। इसके विपरीत

जो सादगी नहीं रखते, अपने रहन-सहन, वेश-भूषा आदि को प्रदर्शन की वस्तु बनाने में ही अग्रसर रहते हैं, उनके विचार आत्मा की गहराई तक न पहुंच कर शरीर की ही सोचते हैं । उनके जीवन में संयम का अभाव रहता है ।''

संयम-- ''सर्वप्रथम अपने मन के स्वामी बनो । हमारा सुख-दु:ख, हमारी प्रसन्नता और स्वास्थ्य मन के ही आधीन हैं । हमारे संकट हमारे अपने मन की उपज हैं । मन की आलोचना करनी चाहिए । यदि वह कुमार्ग की ओर प्रेरित करे, तो उसका कहा मत मानो, उस पर प्रतिबन्ध लगाओ । मन की उल्टी लालसा, तृष्णाओं की पूर्ति मत करो । प्रयत्न करने से मन वश में आयेगा-'मन जीते जग जीत' । इस मन के स्वामी बनो, न कि दास ।''

पुरुषार्थ – ''आपत्ति और संकट में भी अपने साहस और धैर्य को छोड़कर कभी पुरुषार्थ से पराङ्मुख मत होओ । पुरुषार्थी पुरुष के सामने से आपत्तियां और संकट इस प्रकार से भाग जाते हैं, जैसे सिंह के आगे से हिरण और गीदड़ । उद्यमी, साहसी और परिश्रमी पुरुष के सम्मुख सफलता और लक्ष्मी हाथ बांध कर खड़ी रहती हैं । पुरुषार्थ करते-करते यदि फल-प्राप्ति में कुछ अधिक समय भी लग जाए तो घबराना नहीं, पुरुषार्थ का त्याग नहीं करना । समय आयेगा, मेहनत का फल स्वत: सम्मुख आ खड़ा होगा ।''

पुरुषार्थ-प्रेरक यह कविता उन्हें अत्यन्त प्रिय थी-

हे पुरुष पुरुषार्थ कर, यह धर्म हैं तेरा अमर ।
चढ़ना तुझे है शिखर पर, हे पुरुष पुरुषार्थ कर ।।

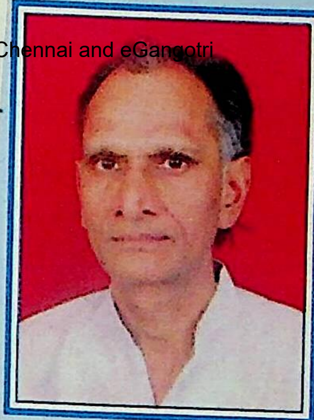
राह में रुकना नहीं तू ।
पाप से झुकना नहीं तू ।

है दिया कौशल तुझे, विधि ने दिया यह दिव्य वर ।
चढ़ना तुझे है शिखर पर, पुरुषार्थ कर पुरुषार्थ कर ।।

भव्य तेरा देव-पथ है ।
साथ तेरे दिव्य रथ है ।

अमरत्व के सन्मार्ग पर, रहना सदा ही तू प्रखर ।
तू है अमर, अक्षय, अजर, पुरुषार्थ कर पुरुषार्थ कर ।।





डॉ० वेदव्रत 'आलोक'

ए०, पी-एच० डी०] आचार्य (प्रथम वर्ष)

र्व-रीडर, संस्कृत-विभाग, स्वामी श्रद्धानन्द
हाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

श्रीमद्दयानन्द वेद विद्यालय में प्रारम्भिक
आर्ष-शिक्षा एवम् आर्य-संस्कार

...य वाङ्मय की मर्मज्ञता एवं परम्पराओं
के प्रति प्रबुद्ध श्रद्धाभाव

न्यूजीलैण्ड में यौगिक स्वास्थ्य-शिक्षण

लेखन– 'संस्कृत सूक्तियों, लोकोक्तियों का
मनोवैज्ञानिक विश्लेषण', 'विवरणानुसारि
पातञ्जलयोग-सूत्रभाष्यम्', 'सरलं संस्कृतम्'
'प्राणयोग' (अप्रकाशित) आदि

पादन : 'महर्षि दयानन्द का अपना जन्म-
चरित्र', 'योगसार', 'योग-दर्पण',
'स्वामी सच्चिदानन्द योगी अभिनन्दन
ग्रन्थ', 'S.K. योगपत्रिका' आदि

स्थापक : 'विशोका आश्रम न्यास'
बी-२/११४, वरुण अपार्टमैण्ट्स,
सैक्टर-९, रोहिणी, दिल्ली-८५
(फोन : २७८६७९९६)

28 A, Hillsboro Road,
HILLS BOROUGH
AUCKLAND-1004
New Zealand

यज्ञ-योगविद्या में क्या है ?

'वेद सब सत्य-विद्याओं का पुस्तक है।' **महर्षि दयानन्द** के इस मन्तव्य के अनुसार योगविद्या को वेदों से जानने की आवश्यकता अनुभव करना स्वाभाविक है। आप भी यदि वैदिक योग को जानना चाहते हैं तो पढ़िये कि वेद-मन्त्र योग के इन विषयों के बारे में क्या कहते हैं ?

- *यम-नियम अर्थात् यौगिक आचरण*
- *आसन एवम् अन्नमय कोश*
- *प्राणायाम एवं प्राणमय कोश*
- *प्रत्याहार एवं मनोमय कोश*
- *धारणा, ध्यान, समाधि एवं विज्ञानमय कोश*
- *मोक्ष एवम् आनन्दमय कोश*
- *आत्म-तत्त्व एवम् ईश्वर*

योग-सम्बन्धी स्वाध्याय और योगाभ्यास के साथ-साथ श्रेष्ठ कार्यों और श्रेष्ठतम कर्म 'यज्ञ' का अनुष्ठान भी साधक के लिए योग-यज्ञ में कैसे परिणत हो जाता है ?

जिस ईश्वर का प्रणिधान और जिसके प्रति समर्पण किया जाता है, उससे किस प्रकार की प्रार्थनाएं की जाएं, जो हमारे योग को परिपुष्ट करें ?

योग का अनुष्ठान करने के लिए इस ग्रन्थ में अनुवाद के साथ लगभग साढ़े चार सौ मन्त्रों का वर्ण्य-विषय के अनुसार संकलन हुआ है। इन का पठन-पाठन और यज्ञ में विनियोग साधकों के लिए निश्चय ही आह्लादकारी होगा।



यौगिक शोध संस्थान

योगधाम हरिद्वार